साधुपक्षे-समयेषु कालावलिषु सारः साधुः शेषं पूर्ववत्। मयो-गतिः, मय गतावस्य धातोः प्रयोगः, तेषु सारं-रत्नत्रयं, तेन सह वर्तत इति समयसारः साधुरित्यर्थो वा।

रत्नत्रयपक्षे-सं-सम्यक्त्वं, अयो-ज्ञानं, सरणं-सारः-चरित्रं, द्वंद्वैकत्वं, तस्मै, शेषं पूर्ववद्यथासंभवं व्याख्येयं। एवमर्थाष्टकं व्याख्यातं। अत्याक्षिप्यमाणं बहुशोऽर्थेन व्याख्यायते, विस्तरभयादपेक्षितं पद्यं। अथ सरस्वतीमभिष्टौति—

स्वर्गीय–पं० जयचंद्रकृत हिंदीवचनिका।

अर्थ–समय कहिये जीव नामा पदार्थ, ताविषैं सार जो द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहित शुद्ध आत्मा, ताकै अर्थि मेरा नमः नमस्कार होऊ। कैसा है? 'भावाय' कहिये शुद्धसत्तारूप वस्तु है। इस विशेषणकरि सर्वथा अभाववादी जो नास्तिक, ताका परिहार है। बहुरि कैसा है? 'चित्स्वभावाय' कहिये चेतनागुणरूप है स्वभाव जाका। इस विशेषणकरि गुणगुणिकै सर्वथा भेद माननेवाला जो नैयायिक, ताका निषेध है॥ बहुरि कैसा है? 'स्वानुभूत्या चकासते' कहिये अपनी ही अनुभवरूप क्रिया, ताकरि प्रकाश करता है–आपकूं आपहीकरि जानैहै, प्रगट करैहै। इस विशेषणकरि आत्माकूं तथा ज्ञानकूं सर्वथा परोक्ष ही माननेवाले जे जैमिनीय भट्ट प्रभाकर मतके मीमांसक तिनिका व्यवच्छेद है। तथा ज्ञान अन्यज्ञानकरि जान्याजाय है आप आपकूं जानै नाहीं ऐसैं मानते जे नैयायिक तिनिका प्रतिषेध है॥ बहुरि कैसा है? 'सर्वभावांतरच्छिदे' कहिये सर्व जीव अजीव जे आपतैं अन्य चराचरपदार्थ, तिनिकूं सर्वक्षेत्रकालसंबंधी सर्वविशेषणनिकरि सहित एककाल जाननेवाला है। इस विशेषणकरि सर्वज्ञका अभाव माननेवाले जे मीमांसक आदि तिनिका निराकरण है॥ ऐसैं विशेषणनिकरि अपना इष्ट देव सिद्ध करि नमस्कार किया है॥

भावार्थ–इहां मंगलके अर्थि शुद्ध आत्माकूं नमस्कार किया है, सो कोई पूछै है–इष्टदेवका नाम ले नमस्कार क्यों नहीं किया? ताका समाधान–जो यह अध्यात्मग्रंथ है, तातैं जो इष्टदेवका सामान्यस्वरूप सर्वकर्मरहित सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध आत्मा ही है। सो समयसार कहनेमैं इष्टदेव आयगया, एक ही नाम लेनेमैं अन्यवादी मतपक्षका विवाद करै हैं, तिनि सर्वका निराकरण विशेषणनितैं जनाया। अन्यवादी अपने इष्टदेवका नाम लेहैं, ताका तो अर्थ बाधासहित है। बहुरि स्याद्वादी जैनीनिकै सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध आत्मा इष्ट है, ताकै नाम कथंचित् सर्व ही सत्यार्थ संभवै हैं। इष्टदेवकूं परमात्मा भी कहिये, परमज्योति कहिये, परमेश्वर कहिये, शिव कहिये, निरंजन कहिये, निष्कलंक कहिये, अक्षय कहिये,

[illegible] कहिये, शुद्ध कहिये, बुद्ध कहिये, अविनाशी कहिये, अनुपम कहिये, अच्छेद्य, अभेद्य, परमपुरुष, निराबाध, सि-द्ध, परमात्मा, चिदानंद, सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हन्, जिन, आप्त, भगवान, समयसार इत्यादि हजारां नामकरि कहिये। तिनि विशेष जाणौं। सर्वथा एकांतवादीनिकै भिन्न नाममें विरोध है, अर्थ यथार्थ समझना ऐसें जानना ॥ दो०—प्रगटै निज अनुभव करै, सत्ता चेतनरूप। सबन्याता लखिकैं नमो, समयसारसिरभूप ॥ १ ॥ आगें सरस्वतीकूं नमस्कार करे हैं—

विशेष—[illegible] किसी विशेष इष्टदेवका उल्लेख न कर सामान्यरूपसे समयसार-परमात्माका उल्लेख किया है त-थापि [illegible] साधु और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रयको भी इसश्लोकसे नमस्कार हो जाता है [illegible] 'समय' शाब्दिक रीतिसे 'अय' पदार्थोंको जाननेवाले जो सातिशय सम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीण-[illegible] उनमें 'सार' मुख्य, समवसरणादि लक्ष्मीसे प्रकाशमान, घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे साक्षात् ज्ञान [illegible] 'भाव' [illegible] देवोंके रक्षक और समस्त पदार्थोंके भेदाभेदको जाननेवाले अर्हंत परमेष्ठीको नमस्कार है। [illegible] सिद्ध परमेष्ठी, अगुरुलघु आदि निजगुणोंकी वृद्धिके धारक हैं। चैतन्य स्वभावसे भूषित हैं, जिनके ज्ञानमें [illegible] झलकते हैं और जिनके किसी भी ज्ञान आदि पदार्थका कभी नाश नहिं होता ऐसे समताको धारण क-[illegible] सिद्धपरमेष्ठीको नमस्कार है। आचार्यके पक्षमें-जो आचार्य पांचो इंद्रियोंका दमन करना, नौ प्रकारके [illegible] पालन करना, आगे कषायोंका जीतना आदि छत्तीस गुणोंके धारक हैं, सम्यग्ज्ञान अर्हंत सिद्ध आदि चेतन शुभ पदार्थोंमें [illegible] हैं और जीव अजीव आदि समस्त पदार्थोंका भेद समझते हैं ऐसे सम्यक्चारित्रको भलेप्रकार पालन क-[illegible] मुख्य श्रीआचार्य परमेष्ठीको नमस्कार है। उपाध्यायपरमेष्ठीके पक्षमें—जो उपाध्याय परमेष्ठी स्वानुभवप्रत्यक्षसे प्रकाशमान हैं, [illegible] अचेतन दोनों पदार्थोंमें स्यादस्तित्व स्यान्नास्तित्व आदि सप्तभंगीका स्वरूप बतलानेवाले हैं और भिन्न भिन्न रूपसे जीव अजीव आदि पदार्थोंके ज्ञाता हैं ऐसे सिद्धांतको प्राप्त होनेवाले—सिद्धांतका अध्ययन करने करानेवाले उपाध्याय परमे-ष्ठीको नमस्कार है। साधुके पक्षमें —जो साधु, स्वानुभवप्रत्यक्षसे प्रकाशमान, चैतन्यस्वभावके धारक, सत्स्वरूप और जीव अजीव आदि पदार्थोंका भेद जाननेवाले हैं ऐसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रयसे भूषित साधु परमेष्ठीको नमस्कार है। रत्नत्रयके पक्षमें स्वस्वरूपसे प्रकाशमान चैतन्य और सत्स्वरूप, जीव अजीव आदि पदार्थोंके ज्ञान श्रद्धान आदि करानेवाले सं- स-म्यक्त्व, अय सम्यग्ज्ञान, सार-सरण-सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रयकेलिये नमस्कार है। इसप्रकार इस श्लोकके आठ अर्थ कियेगये हैं ॥ १ ॥

अंक

१

४

अनंतधर्मणस्तत्त्वं पश्यंती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकांतमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशतां ॥ २ ॥

सं॰ टी॰—अनेकांतमयी मूर्तिः-अनेकांतेन-स्याद्वादेन निर्वृत्ता स्याद्वादात्मिका मूर्तिर्यस्याः सा अनेकांतमयी मूर्तिः-जिनवाणी, जिनवाण्या अनेकांतात्मकत्वादनुक्तापि सामर्थ्याज्जिनवाणी लभ्यते । नित्यं-सदैव, त्रिकालं प्रकाशतां-नित्योद्योतं कुरुतां । किंविशिष्टा सा ? प्रत्यगात्मनः-परमात्मनः-अथवा आत्मनः-चिद्रूपस्य, प्रत्यक् तत्त्वं पश्यंती-भिन्नं तत्त्वं-स्वरूपं अवलोकयंती-प्रकाशयंतीत्यर्थः । किंविशिष्टस्य तस्य ? अनंतधर्मणः- अनंता त्रिकालानंतप्रमाणाः अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानेकत्वादिरूपा धर्माः-स्वभावा यस्य स तथोक्तस्तस्य । धर्मशब्दोऽत्र स्वभाववाची, "धर्माः पुण्यसमन्यायस्वभावाचारसोमपाः" इत्यनेकार्थः । अथ स्वचित्तविशुद्ध्यर्थं प्रार्थयति—

अर्थ–अनेक हैं अंत कहिये धर्म जामें ऐसा जो ज्ञान तथा वचन तिसमयी मूर्ति है सो नित्य कहिये सदा ही प्रकाशतां कहिये प्रकाशरूप होऊ। कैसी है ? अनंत हैं धर्म जामें ऐसा अर प्रत्यक् कहिये परद्रव्यनितैं तथा परद्रव्यके गुणपर्यायनितैं भिन्न अर परद्रव्यके निमित्ततैं भये अपने विकारनितैं कथंचित् भिन्न एकाकार जो आत्मा ताका तत्त्व कहिये असाधारण सजातीय विजातीय द्रव्यनितैं विलक्षण निजस्वरूप ताही पश्यंती कहिये अवलोकन करती है ॥ भावार्थ–इहां सरस्वतीकी मूर्तिकूं आशीर्वचनरूप नमस्कार किया है, सो लौकिकमें सरस्वतीकी मूर्ति प्रसिद्ध है, परंतु यथार्थ नाहीं, तातैं ताका यथार्थ वर्णन किया है ॥ जो यह सम्यग्ज्ञान है सो सरस्वतीकी सत्यार्थ मूर्ति है, तहां संपूर्णज्ञान तो केवलज्ञान है, जामें सर्वपदार्थ प्रत्यक्ष प्रतिभासे हैं, सोही अनंतधर्मनिसहित आत्मतत्त्वकूं प्रत्यक्ष देखे है। बहुरि ताहीका अनुसारी श्रुतज्ञान है सो परोक्ष देखे है, तातैं यह भी ताहीकी मूर्ति है । बहुरि द्रव्यश्रुत वचनरूप है, सो यह भी ताही की मूर्ति है, जातैं वचनद्वारकरि अनंतधर्मा आत्माकूं यह जनावे है । ऐसें सर्वपदार्थनिके तत्त्वकूं जनावती ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकांतमयी सरस्वतीकी मूर्ति है, याहीतैं सरस्वतीका नाम वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी इत्यादि अनेक कहिये है । अनंतधर्मनिकूं स्यात्पदतैं एक धर्मीविषैं अविरोधरूप साधे है, तातैं सत्यार्थ है । अन्यवादी केई सरस्वतीकी मूर्ति अन्यथा थापे हैं, सो पदार्थकूं सत्यार्थ कहनहारी नाहीं ॥ इहां कोई पूछै–आत्माका अनंतधर्मा विशेषण किया, सो ते अनंतधर्म कौन कौन हैं ? तहां कहिये–जो वस्तुमें सत्पणा, वस्तुपणा, प्रमेयपणा, प्रदेशपणा, चेतनपणा, अचेतनपणा, मूर्तिकपणा, अमूर्तिकपणा इत्यादिक तौ गुण हैं । बहुरि तिनि गुणनिका परिणमनरूप पर्याय तीनकालसंबंधी

सरस्वती जांन है ॥ बहुरि एकपना, अनेकपना, नित्यपणा, अनित्यपणा, भेदपणा, अभेदपणा, शुद्धपणा, अशुद्धपणा आदि अनेकधर्म हैं, ते सामान्यरूप तो वचनगोचर हैं, अर विशेष वचनतैं अगोचर हैं, ते अनंत हैं ज्ञानगम्य हैं। ऐसैं आत्मा भी वस्तु है, तामैं भी अपने अनंतधर्म हैं। तिनिमैं चेतनपणा असाधारण है, अन्य अचेतनद्रव्यमैं नाहीं। बहुरि सजातीय जीवद्रव्य अनंत हैं, तिनिमैं है तोऊ अपना अपना जुदा जुदा निजस्वरूपकरि कह्या है। जातैं द्रव्य द्रव्यनिकै प्रदेशभेद है, तातैं काहूका काहूमैं मिलना नाहीं। सो यह चेतनपणा अपने अनंतधर्मनिमैं व्यापक है, तातैं याहीकूं आत्माका तत्त्व कह्या है, ताकूं यह सरस्वतीकी मूर्ति देखै है, अर दिखावै है, तातैं याकूं आशीर्वादरूप वचन कह्या है-जो, सदा प्रकाशरूप रहौ, यातैं सर्वप्राणीका कल्याण होय है ऐसैं जानना ॥ २ ॥ आगैं टीकाकार इस ग्रंथका व्याख्यान करनेका फलकूं चाहता संता प्रतिज्ञा करै है—

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

सं० टी०—मम-मे, भवतु-अस्तु। का? परमविशुद्धिः-परमा उत्कृष्टा-कर्ममलकलंकरहिता, सा चासौ विशुद्धिश्च-विशुद्धता, कुतः? अनुभूतेः-अनुभवात्, कया? समयसारव्याख्ययैव-समयेषु-पदार्थेषु सारः-परमात्मा, तस्य व्याख्या-विशेषेण वर्णनं, एव निश्चयेन, परमात्मव्यावर्णनात्, अनुभूतिः, ततो विशुद्धिर्भवतु। अथवा-समयसाराख्यमिदं शास्त्रं तद्व्याख्यया कृत्वा अनुभूतिः ततः शुद्धिश्च। कस्याः? शुद्धेत्यादि-शुद्धं कर्मकलंकरहितं, चिन्मात्रं-ज्ञानमात्रं तदेव मूर्तिर्यस्याः सा तथोक्ता तस्याः, व्यवहारदशायां तु किंलक्षणा? अविरतं-निरंतरं, अनुभेत्यादि-संसारिणां, अनुभवितुं योग्याः-अनुभाव्याः-विषयाः, तेषां व्याप्तिः प्राचुर्यं तया कल्माषिता-कश्मलीकृता या सा तथोक्ता तस्याः, कुतः? अनुभावात्-प्रभाचात्, कस्य? मोहनाम्नः शत्रोरित्याध्याहार्यं, किंलक्षणस्य तस्य? परेत्यादि-परेभ्यः पुत्रमित्रकलत्रशत्रुभ्यः, उत्पन्ना परिणतिः-परिणामः। अथवा परा आत्मस्वरूपाद्भिन्ना विभावरूपा परिणतिः सैव हेतुः कारणं यस्य स तथोक्तस्तस्य ॥ ३ ॥ अथ जिनवचसः समयसारस्य प्राप्तिं द्रढयति—

याका अर्थ—श्रीमान् अमृतचंद्र आचार्य कहे हैं, जो इस समयसार कहिये शुद्धात्मा तथा यह ग्रंथ, ताकी व्याख्या कहिये कथनी तथा टीका, ताहीकरि मेरी अनुभूति कहिये अनुभवनक्रियारूपपरिणति, ताकै परमविशुद्धि कहिये समस्त रागादिविभावपरिणतिरहित उत्कृष्ट निर्मलता होऊ। कैसी है यह मेरी परिणति? परपरिणतिकूं कारण जो मोहनामा कर्म, ताका अनुभाव कहिये उदयरूपविपाक, तातैं अनुभाव्य कहिये रागादिक परिणाम तिनिकी जो व्याप्ति ताकरि

निरंतर कल्मापित कहिये मैली है। बहुरि मैं कैसा हूं ? द्रव्यदृष्टिकरि शुद्धचैतन्यमात्रमूर्ति हूं ॥ भावार्थ–आचार्य कहै हैं–जो शुद्धद्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिकरि तो मैं शुद्धचैतन्यमात्र मूर्ति हूं । परंतु मेरी परिणति मोहकर्मके उदयके निमित्त करि मलिन है, रागादिरूप होय रही है। सो इस शुद्ध आत्माकी कथनीरूप यह जो समयसार ग्रंथ, ताकी टीका करनेका फल यह चाहूं हूं, जो मेरी परिणति रागादिकतें रहित होयकरि शुद्ध होऊ, मेरै शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति होऊ, अन्य किछु ख्याति, लाभ, पूजादिक नाहीं चाहूं हौ। ऐसें आचार्यनें टीका करनेकी प्रतिज्ञागर्भित याका फलकी प्रार्थना करी है ॥ ३ ॥

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥ ४ ॥

सं० टी०—ते-पुरुषा, सपदि-तत्कालं, एव-निश्चयेन, ईक्षंते-अवलोकयंति,-साक्षात्कुर्वंतीत्यर्थः । किं तत् ? परंज्योतिः-परं-उत्कृष्टं-अतिक्रांतसूर्यादि, तच्च तज्ज्योतिश्च-ज्ञानतेजः-परंब्रह्मेत्यर्थः। किंलक्षणं तत् ? समयसारं-सर्वपदार्थेषु सारं,पुनः किंभूतं? उच्चैः-अतिशयेन, अनवं-नवं अकृत्रिमं-पुराणमित्यर्थः, अनादिनिधनत्वात् । पुनः किंभूतं ? अनयपक्षाक्षुण्णं-नयो नैगमादिः स्याद्वादसापेक्षः, ततो विपरीतः-एकांतरूपोऽनयस्तेषु पक्षोऽभिनिवेशो येषां तेऽनयपक्षाः, एकांतवादिनः, तैरक्षुण्णं-अक्षुमितं-अध्वस्तमित्यर्थः 'सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते' इति वचनात् । ते के ? ये स्वयं-स्वत एव वांतमोहाः संतः- वांतो-वमितो मोहो रागद्वेषरूपो यैस्तथोक्ताः, रमंते-क्रीडंति एकत्वं भजंत इत्यर्थः । क्व ? जिनवचसि-जिनोक्तसिद्धांतसूत्रे, किंलक्षणे तस्मिन् ? उभयेत्यादि-उभये नया द्रव्यपर्यायार्थिकाः–अस्तित्वनास्तित्वं, एकत्वानेकत्वं, नित्यत्वानित्यत्वमित्येवमादयः, ? तेषां विरोधः-परस्परं विरोधित्वं,-यत्रास्तित्वं तत्र नास्तित्वस्य विरोधः, यत्र नास्तित्वं तत्रास्तित्वस्य विरोध इत्याद्येकांतवादिनां विरोधः, तं ध्वंसते इत्येवंशीलं तस्मिन् तथा चोक्तमष्टसहस्र्यां–'विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां" पुनः किंभूते ? स्यात्पदांके-कथंचित्पदेन लक्षिते, जिनवचसः स्याद्वादात्मकत्वात् । तथा चोक्तं सोमदेवसूरिणा-स्याच्छब्दमंतरेण उन्मिषितमात्रमपि न सिद्धिरधिवसतीति' ।

अर्थ–निश्चय व्यवहाररूप जे दोय नय तिनिके विषयके भेदतैं परस्पर विरोध है, तिस विरोधका दूर करनहारा स्यात्पदकरि चिन्हित जो जिनभगवानका वचन तिसविषैं जे पुरुष रमैं हैं प्रचुरप्रीतिसहित अभ्यास करे हैं ते स्वयं कहिये स्वयमेव विनाकारण आपै आप वम्या है मोह कहिये मिथ्यात्वकर्मका उदय जिनिनैं ते पुरुष इस समयसार जो शुद्ध आत्मा

[illegible] अर्थ भेद किया है। हम पंडित जयचंद्रजीके अर्थसे सहमत हैं क्योंकि व्यवहार [illegible] संस्कृतमें यहां भेद प्रगट किया है कि शुद्धस्वरूपकी प्राप्तिके पहिले उसकी प्राप्तिकेलिये [illegible] पड़ता है यदि हमारा मन चले अर्थात् विना व्यवहारके अवलंबन किये ही शुद्धनि- [illegible] नहीं और आंखसे भी न देखते ॥ ५ ॥

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः॥

[illegible] नियमात् निश्चयनयमाश्रित्य, एव-निश्चयेन, एतत्सम्यग्दर्शनं शुद्धसम्यक्त्वं, एतत् किं ? यत् अस्य- [illegible], दर्शनं अवलोकनं, ध्यानेन आत्मनः साक्षात्करणमित्यर्थः। कथं द्रव्यांतरेभ्यः-शुद्धचिद्रू- [illegible] पुद्गलादिद्रव्याणि, तेभ्यः, पृथक्-भिन्नं भवति, तथा किंविशिष्टस्यात्मनः ? शुद्धनयतः-निश्च- [illegible] एकत्वे, नियतस्य-रतिं प्राप्तस्य, पुनः किं भूतस्य ? व्याप्तुः-स्वगुणपर्याय- [illegible] व्यापकस्य, ज्ञानेन ज्ञानत्वात्सर्वस्य, तथाचोक्तमकलंकपादैः—

[illegible] संमतः। ततः सर्वगतः सोऽपि विश्वव्यापी न सर्वथा ॥ इति

[illegible] परिपूर्णः, ज्ञानस्य-बोधस्य घनो यत्र स तथोक्तस्तस्य, च-पुनः अयं-प्रत्यक्षीभूतः आत्मा-चिद्रूपः, [illegible] । तत्-तस्मात् कारणात्, अयं-आत्मा-चिद्रूपः, नः-अस्माकं, एकः-अद्वितीयः, अस्तु [illegible], नवतत्त्वसंतति-जीवादिनवतत्त्वानां समूहं, मुक्त्वा-त्यक्त्वा, कर्मकलंकितजीवादितत्त्वानि विहाय [illegible] । ६ । अथात्मनः प्रकाशो द्योतत इति द्योतयति—

अर्थ-जो इस आत्माका अन्यद्रव्यनितैं न्यारा देखना श्रद्धान करना सोही यह नियमतैं सम्यग्दर्शन है ॥ कैसा है आत्मा ? अपने गुणपर्यायनिविषैं व्यापनेवाला है। बहुरि कैसा है ? शुद्धनयतैं एकपणाविषैं निश्चित कीया है। बहुरि कैसा है ? पूर्णज्ञानघन है बहुरि जेता यह सम्यग्दर्शन है तेताही आत्मा है ॥ तातैं आचार्य प्रार्थना करेहैं जो इस नवतत्त्वकी परिपाटीकूं छोडि यह आत्माही हमारै प्राप्त होहू ॥ भावार्थ-सर्व जे स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप गुणपर्यायभेद तिनिमैं व्यापनेवाला जो यह आत्मा शुद्धनयकरि एकपणाविषै निश्चित कीया, शुद्धनयतैं

ज्ञायकमात्र एक आकार दिखाया, ताका सर्व अन्यद्रव्य अर अन्यद्रव्यनिके भाव तिनितैं जो न्यारा देखना श्रद्धान करना सो यह नियमतैं सम्यग्दर्शन है । व्यवहार नय आत्माका अनेक भेद रूप कहि सम्यग्दर्शनकूं अनेकभेदरूप कहे है तहां व्यभिचार आवै, यातैं नियम न रहै । शुद्धनयकी हद पहुंचे व्यभिचार नाहीं है । तातैं नियमरूप है । कैसा है ? शुद्धनयका विषयभूत आत्मा पूर्णज्ञानघन है । सर्व लोकालोकका जाननहारा ज्ञानस्वरूप है ॥ बहुरि याका श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है सो किछु न्यारा पदार्थ नाहीं है आत्माहीका परिणाम है तातैं आत्माही है, तातैं सम्यग्दर्शन है सोही आत्मा है, अन्य नाहीं है ॥ भावार्थ-इहां एता और जानना जो नय हैं ते श्रुतप्रमाणके अंश हैं यातैं यह शुद्धनय है सोऊ श्रुतप्रमाणहीका अंश है । अर श्रुतप्रमाण है सो परोक्षप्रमाण है वस्तुकूं सर्वज्ञके आगमके वचनतैं जाणै है । सो यह शुद्धनय है सो यह परोक्ष सर्वद्रव्यनितैं न्यारा असाधारण चैतन्यधर्मकूं सर्व आत्माकी पर्यायनिविषैं व्याप्त पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप सर्व लोकालोकका जाननहारा दिखावै । तिसकूं यह व्यवहारी छद्मस्थजीव आगमकूं प्रमाण करि पूर्ण आत्माका श्रद्धान करै सोही श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है । जेतैं व्यवहारनयके विषयभूत जीवादिकभेदरूप तत्त्वनिका केवल श्रद्धान रहै, तेतैं निश्चयसम्यग्दर्शन नाहीं, यातैं आचार्य कहे हैं जो इस तत्त्वनिकी संतति परिपाटीकूं छोडि-करि यह शुद्धनयका विषयभूत एक आत्मा है सोही हमकूं प्राप्त होऊ । अन्य किछु न चाहे हैं ॥ यह वीतराग अवस्थाकी प्रार्थना है, किछु नयपक्ष नाहीं, जो सर्वथा नयनिका पक्षपात होऊही करै तो मिथ्यात्वही है ॥ इहां कोई पूछै-यह अनुभवमैं चैतन्यमात्र आवै एता ही आत्माकूं मानि श्रद्धान करै तो सम्यग्दर्शन है कि नाहीं ? ताका समाधान-जो चैतन्यमात्र तौ नास्तिकविना सर्वही मतके आत्माकूं माने हैं, सो एताही श्रद्धानकूं सम्यक्त्व कहिये तौ सर्वहीकै सम्यक्त्व ठैहरै तातैं सर्वज्ञकी वाणीमैं जैसा पूर्ण आत्माका स्वरूप कह्या है तैसा श्रद्धान भये निश्चयसम्यक्त्व होय है ॥६॥ अब तीसरा काव्यमैं कहे हैं जो सूत्रकार आचार्य ऐसैं कहे हैं जो याके आगे शुद्धनयके आधीन जो सर्वद्रव्यनितैं भिन्न आत्मज्योति है सो प्रगट होय है–

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति ॥ ७ ॥

सं. टी.—अतः यतो नवतत्त्वेष्वपि, अयमेक आत्मास्तु नः, अतः कारणात्, चकास्ति-द्योतते । तत्प्रसिद्धं प्रत्यग्ज्योतिः-

त्कारमात्र उद्योतमान है ॥ भावार्थ-यह आत्मा सर्व अवस्थामें नानारूप दीखैथा सो शुद्धनय एक चैतन्यचमत्कार-मात्र दिखाया है। सो अब सदा एकाकारही अनुभवन करो पर्यायबुद्धिका एकांत मति राखो यह श्रीगुरुनिका उपदेश है ॥ अब टीकाकार फेरि कहे हैं, जो, जैसें नवतत्त्वमें एक जीवहीका जानना भूतार्थ कह्या, तैसेही एकपणाकरि प्रकाशमान जो आत्मा ताका अधिगमनके उपाय ये प्रमाणनयनिक्षेप हैं तेभी निश्चयतें अभूतार्थ हैं ॥ तिनिविर्षेभी यह एक आत्माही भूतार्थ है। जातें ज्ञेयके अर वचनके भेदतें ते अनेक भेदरूप होय हैं ॥ तहां प्रथमही प्रमाण दोय प्रकार है परोक्ष अर प्रत्यक्ष। तहां उपात्त कहिये इंद्रियनितें भिडिकरि प्रवर्ते अर अनुपात्त कहिये विनाभिडे मनकरि प्रवर्ते ऐसें दोय परद्वारकरि प्रवर्त्तमान सो परोक्ष है। बहुरि केवल आत्माहीकरि प्रतिनिश्चितपणाकरि प्रवर्त्तमान होय सो प्रत्यक्ष है ॥ भावार्थ-प्रमाण ज्ञान है, सो ज्ञान पांचप्रकार है मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल। तिनिमें मति, श्रुत तौ परोक्ष हैं। अर अवधि, मनःपर्यय विकलप्रत्यक्ष हैं। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। सो ये दोऊही प्रमाण हैं ॥ ते प्रमाता प्रमाण प्रमेयके भेदकूं अनुभव करते संते तौ भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं। बहुरि गौण भये हैं समस्तभेद जामें ऐसा जो एक जीवका स्वभाव ताका अनुभव करते संते अभूतार्थ हैं असत्यार्थ है ॥ बहुरि नय हैं सो द्रव्यार्थिक है, पर्यायार्थिक है। तहां वस्तु है सो द्रव्यपर्यायस्वरूप है। तामें द्रव्यकूं मुख्यपणाकरि अनुभवन करावे ऐसा तौ द्रव्यार्थिक है। बहुरि पर्यायकूं मुख्यपणाकरि अनुभवन करावे सो पर्यायार्थिक है। सो ए दोऊही नय द्रव्यपर्यायकूं भेदरूप पर्यायकरि अनुभवन करते संते तो भूतार्थ हैं सत्यार्थ हैं॥ बहुरि द्रव्यपर्याय दोऊहीकूं नाहीं आलिंगन करता ऐसा शुद्ध वस्तुमात्र जो [illegible]का स्वभाव चैतन्यमात्र ताकूं अनुभव करते संते भेद अभूतार्थ असत्यार्थ है ॥ बहुरि निक्षेप है सो नाम स्थापना [illegible] भेदकरि चारि प्रकार है। तहां जामें जो गुन तौ न होय अर तिसके नाम वस्तुकी संज्ञा करीये सो तौ ना-[illegible] है। [illegible] अन्यवस्तुविर्षे अन्यकी प्रतिमारूप स्थापना करना जो यह वह वस्तु है सो यह स्थापनानिक्षेप है। [illegible] अतीत, अनागत पर्यायरूप वस्तु होय ताकूं वर्त्तमानवस्तुमें कहिये सो द्रव्यनिक्षेप है। व-[illegible] वर्त्तमान कहिये सो भावनिक्षेप है। सो ए चारोही निक्षेप अपने अपने लक्षणभेदतें न्यारे न्यारे [illegible] भूतार्थ हैं सत्यार्थ हैं ॥ बहुरि भिन्नलक्षणतें रहित एक अपना चैतन्यलक्षणरूप [illegible] चारोही अभूतार्थ हैं असत्यार्थ हैं ॥ ऐसें इनि प्रमाणनयनिक्षेपनिविर्षे भूतार्थप-

आवर्ते एक चैतन्यही प्रकाशमान है ॥ भावार्थ-इहां इनि प्रमाणनयनिक्षेपनिका विस्ताररूप व्याख्यान इनिके प्रकरणके ग्रन्थनिमें है, तहांतें जानना। इनितें वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक साधिये है। सो साधक अवस्थामें तौ ए सत्यार्थही हैं जातें ए ज्ञानहीके विशेष हैं, इनिबिना वस्तूकूं यथावत्पणैकरि साधे तब विपर्यय होय है ॥ अवस्थाके व्यवहारके अभावकी तीन भेद हैं। एक तौ पदार्थस्वरूप जानि ज्ञानश्रद्धानकी सिद्धि करना, सो ज्ञानश्रद्धान सिद्धि भये पीछे इनि प्रमाणादिकनिका आलंबन करि तौ किछु प्रयोजन नाहीं ॥ बहुरि दूजी अवस्था विशेष ज्ञान अर राग द्वेष मोह कर्मका सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्रका होना है, यातें केवलकी प्राप्ति है। सो यह भये पीछे प्रमाणादिकका आलंबन नाहीं है ॥ यातैं आगैं साक्षात् सिद्ध अवस्था है, सो तहां भी किछु आलंबन नाहीं है ॥ ऐसें सिद्ध अवस्थामें प्रमाणनयनिक्षेपनिका अभावही है इस अर्थका कलशरूप काव्य कहे हैं—

विशेष—पं० जयचंद्रजीने इस श्लोकका अर्थ किया है भावार्थ भी विस्तृतरूपसे समझाया है परंतु श्लोकमें जो दृष्टांत है उसका विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया भट्टारक शुभचंद्रजीने श्लोककी टीका यद्यपि स्पष्ट लिखी है परंतु अधिक दृष्टि लगानेसे कठिनता मालूम होनेसे समझमें आता है इसलिये हमारी समझसे इस श्लोकका सुगम और स्पष्ट अर्थ इसप्रकार है—

यह प्रसिद्ध बात है कि सुवर्णको तपाकर शुद्ध किया जाता है और ज्यों ज्यों उसमें अग्निके ताव दिये जाते हैं त्यों त्यों उसके कीट कालिमा आदि मल दूर होते जाते हैं इसरीतिसे उसके असली स्वरूपके प्राप्त करनेकेलिये एकसे लेकर सोलह ताव दिये जाते हैं और वह हर एक तावमें कुछ २ कीट कालिमा आदिसे रहित होता हुआ उत्तरोत्तर प्रकाश मान होता चला जाता है जिससमय उसके सोलहों ताव समाप्त हो जाते हैं उससमय वह सोलहवानी अर्थात् निखालस सोना कहा जाता है और सुवर्णकी परीक्षा करनेवाले मनुष्य उस सोलहवारके तपाये हुये सोनेको कसौटीपर घिसकर उसके असलीस्वरूपको देखते हैं तो यद्यपि वह सुवर्ण एक शुद्धस्वरूप है तथापि कीट आदिके संबंधसे उसके तावों (उत्तरोत्तर अवस्थाओं) के भेदसे उसमें भेद होता जाता है वह अनेक स्वरूप जान पड़ने लगता है परंतु कीट आदिके नष्ट होजानेपर वह ज्योंका त्यों प्रकट होजाता है उसीप्रकार यह आत्मा भी एक चैतन्यमात्र शुद्ध स्वरूप है और जैसा जैसा वह एकेंद्रियसे दो इंद्रिय, दो इंद्रियसे ते इंद्रिय, ते इंद्रियसे चौ इंद्रिय, चौइंद्रियसे पंचेंद्रिय, पंचेंद्रियोंमें मनुष्य, मनुष्योंमें अणुव्रती श्रावक, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लकसे मुनि, मुनियोंमें भी सातवेंसे लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती और केवली आदि होता जाता है त्यों त्यों वह कर्म मलसे रहित होता हुआ प्रत्येक पर्यायमें प्रकाशमान होता

जाता है और अनेकाकार दिखता है परंतु सिद्ध अवस्थामें यह अकेले शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूपका धारक ही रहता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे इस प्रकारके चैतन्यमात्रस्वभावके धारक शुद्ध सिद्ध स्वरूपका अनुभव करें ॥ ८ ॥

**उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥**

सं. टी.—अस्मिन् परात्मलक्षणे, धाम्नि-ज्योतिषि, सर्वंकषे-सर्वं लोकालोकं, कषति-ग्रासमानं करोति जानातीति लक्षणया धातूनामनेकार्थत्वात् सर्वंकषः 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' इति खश्प्रत्ययविधानात्। अनुभवं स्वानुभवप्रत्यक्षं, उपयाते प्राप्ते सति, नयश्रीः-नया द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाः-नैगमादयः, तेषां श्रीः, न उदयति न प्राप्नोति 'नयानां परमात्मन्यधिकाराऽयोगात्' बाह्यवस्तुप्रकाशकत्वाच्च, पुनस्तस्मिन् प्रकाशिते, प्रमाणं-प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तु तत्त्वं येन तत्प्रमाणं-स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं, तच्च द्वेधं प्रत्यक्षपरोक्षभेदात्। तत्र विशदं प्रत्यक्षं, तच्च द्वेधा साकल्यवैकल्यभेदात्। साकल्यं केवलज्ञानं सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणत्वात्। वैकल्यं-अवधिमनःपर्ययभेदाद् द्वेधा। ऐंद्रियं प्रत्यक्षं सांव्यवहारिकं स्पर्शनादीन्द्रियभेदात्, षोढा। तत्र प्रत्येकं-अवग्रहेहावायधारणाभेदाच्चतुर्धा, तच्च बहुबहुविधादिद्वादशविषयभेदात्, षट्त्रिंशदधिकशतभेदभिन्नं। परोक्षं-स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदाद् बहुधा, एतद्द्विविधलक्षणं प्रमाणमस्तं गतमेति प्रमाणानां तत्प्राप्तिनिमित्तत्वात् तत्प्राप्ते वैयर्थ्याच्च। च पुनः, निक्षेपचक्रं-निक्षेपस्तु नामस्थापनाद्रव्यभावभेदतश्चतुर्धा-तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम, अन्यत्र सोयमिति व्यवस्थापनं स्थापना, वर्तमानतत्पर्यायादन्यद्द्रव्यं, तत्कालपर्यायाक्रांतं वस्तु भावोऽभिधीयते, तस्य चक्रं-समूहः क्वचिदपि-कुत्रचिदपि, आत्मनोऽन्यमालक्ष्ये स्थाने, याति गच्छति, तद् वयं न विद्मः-न जानीमः। अतिशयालंकारकथनमेतत्। प्राथमिकानां निक्षेपस्योपयोगित्वात्। अत्रापरं-'निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानलक्षणं' 'सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालांतरभावाल्पबहुत्वलक्षणं' च किमभिदध्मः किं-कथयामः ?, तत्र तेषामनुपयोगित्वात्। एव-निश्चयेन, द्वैतं-द्वाभ्यां-नयनेव-प्रमाणप्रमेय-निक्षेपनिक्षेप्यादिलक्षणाभ्यां, इतं-प्राप्तं, द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, स्वार्थिकाऽणप्रत्ययविधानात्। न भाति-न प्रतिभासते, तथा चोक्तं—

प्रमाणनयनिक्षेपा अर्वाचीनपदे स्थिताः। केवले च पुनस्तस्मिस्तदेकं प्रतिभासतां ॥

अथ-स्वात्मस्वभावं प्रकाशयंतं शुद्धनयं व्यनक्ति—

अब आचार्य शुद्धनयका अनुभवकरि कहे हैं, जो, इस सर्वभेदनिका गौण करनहारा जो शुद्धनयका विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र तेजःपुंज आत्मा ताकै अनुभव आवे संते नयनिकी लक्ष्मी है सो उदयकूं नाहीं प्राप्त होय है। ब-हुरि प्रमाण है सो अस्तकूं प्राप्त होय है। बहुरि निक्षेपनिका समूह है सो कहूं जाता रहैहै सो हम नाहीं जाने हैं। इ-सिवाय और कहा कहैं द्वैत ही नाहीं प्रतिभासे है॥ भावार्थ—भेदकूं अत्यंत गौण करि कह्या है जो प्रमाणनयादिकका भेदकी कहा कथा है? शुद्ध अनुभव होतें द्वैतही नाहीं भासे है, एकाकार चिन्मात्रही दीखे है॥ इहां विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदांती कहैं जो परमार्थ तौ अद्वैतहीका अनुभव भया सोही हमारा मत है, तुमने विशेष कहा कह्या? ताकूं कहिये जो तुम्हारा मतमें सर्वथा अद्वैत माने है, सो सर्वथा माने तौ बाह्यवस्तुका अभाव होय है, सो ऐसा अभाव प्रत्यक्षविरुद्ध है। बहुरि हमारे नयविवक्षा है सो बाह्यवस्तुका लोप नाहीं करे है। शुद्ध अनुभवतें विकल्प मिटे है, तब परमानंदकूं आत्मा प्राप्त होय है, तातैं अनुभव करावनेकूं ऐसा कह्या है। अर बाह्यवस्तुका लोप कीये तौ आत्माकाभी लोप आवे तब शून्यवादका प्रसंग आवे है, सो तुम कहो तैसे वस्तुस्वरूप सधे नाहीं, अर वस्तुस्वरूपकी यथार्थश्रद्धाविना जो शुद्ध अनुभवभी करे तौ मिथ्यारूप है, शून्यका प्रसंग आया तब आकाशके फूलका अनुभव है॥ ९॥ आगैं शुद्धनयका उदय होय है ताकी सूचनिकाका काव्य कहे हैं—

विशेष—पं० जयचंद्रजीने 'सर्वंकषे' पदका अर्थ सब पदार्थोंको गौण करनेवाला किया है और भट्टारक शुभचंद्रका अर्थ, सब पदार्थोंको घातनेवाला यह है। यद्यपि ये दोनो ही अर्थ अनुकूल हैं तथापि खुलासा अर्थ 'परद्रव्य और उनके विकारोंसे रहित' यह है। पं० जयचंद्रजीने 'किमपरमभिदध्मः' इस वाक्यका अर्थ 'इसके सिवाय और क्या कहें?' और पं० शुभचंद्रजीने प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण पदसे उल्लेखकर अपर शब्दसे निर्देश स्वामित्व आदि ग्रहण किये हैं और यह आशय प्रकट किया है कि शुद्धचिन्मात्र तत्त्वके अनुभव होनेपर जब बलवान्से बलवान भी प्रत्यक्ष परोक्ष आदि प्रमाण लापता होजाते हैं तब न कुछ शक्तिके धारक निर्देश स्वामित्व आदि तो ठहर ही कैसे सकते हैं? इन दोनों अर्थोंमें भट्टारक शुभचंद्रजीका अर्थ चमत्कार पूर्ण है॥ ९॥

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकं।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति॥ १०॥

सं. टी.—अभ्युदेति-उदयं गच्छति, कोसौ? शुद्धनयः-शुद्धपरात्मग्राहकद्रव्यार्थिकः, किं कुर्वन्? प्रकाशयन्-व्यक्तीकु-

र्यन्, कं ? तं, आत्मस्वभावं-शुद्धचिद्रूपस्वरूपं, कीदृशं तं? परभावभिन्नं-परे च ते भावाश्च परभावाः-स्वा मान्यपदार्थाः, अथवा परेषांअचेतनादीनां भावाः स्वभावाः, तैर्भिन्नं । भूयः कीदृशं ? आपूर्णं-आ-अतिशयेन परिपूर्णं, ज्ञानाद्यनंतगुणपूर्णत्वादस्य, पुनः किंभूतं ? आद्यंतविमुक्तं-अनादिनिधनमित्यर्थः, पुनः कीदृशं ? एकं-अद्वैतं, अखंडद्रव्यत्वात्, विलीनेत्यादि-परद्रव्ये ममेदमिति मतिः संकल्पः, अहं सुखी दुःखीत्यादिमतिः, विकल्पः, संकल्पश्च विकल्पश्च संकल्पविकल्पौ, विलीनं संकल्पविकल्पयोर्जालं समूहो यस्य तं, । १० । अथात्मनोऽनुभवनं भावयति—

अर्थ–शुद्धनय है सो आत्माके स्वभावकूं प्रगट करता संता उदय होय है। कैसा प्रगट करे है ? परद्रव्य तथा पर द्रव्यके भाव तथा परद्रव्यके निमित्तें भये अपने विभाव ऐसें परभावनितें भिन्न प्रगट करे है। बहुरि कैसा प्रगट करे है ? आपूर्ण कहीये समस्तपणाकरि पूर्णस्वभाव समस्त लोकालोकका जाननहारा ऐसा स्वभावकूं प्रगट करे है। जातें ज्ञानमें भेद तो कर्मसंयोगतें है, शुद्धनयमें कर्म गौण है॥ बहुरि कैसा प्रगट करे है ? आदि अंतकरि रहित, जो कछू हू आदि लेकरि काहूंते भया नाहीं, तथा कबहूं काहूकरि जाका विनाश नाहीं ऐसा पारिणामिक भावकूं प्रगट करे है। बहुरि कैसा प्रगट करे है ? एक है, सर्व भेदभावतें द्वैतभावतें रहित एकाकार है, बहुरि विलय भये हैं समस्त संकल्प अर विकल्पके समूह जामें। संकल्प तो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यनिविषैं आपा कल्पै सो लेणैं अर विकल्प जे ज्ञेयनिके भेदतें ज्ञानमें भेद दिखै ते लेणैं। ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होय है। सो इस शुद्ध नयकूं जानना।

नहि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोमी स्फुटमुपरि तरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठां ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंताज्जगदपगतमोहीभूय सम्यक् स्वभावं ॥ ११ ॥

सं. टी.—भो जगत्-भोजगन्निवासिलोक ! आधारे आधेयस्योपचारः, लोकोक्तिरपीदृशास्ति 'मालवो देशः समागतो ऽत्र, इत्युक्ते तत्रत्या भूमिर्नागता किंतु तत्रत्यो लोकः' तथा जगदित्युक्ते जगन्निवासिलोकः, अनुभवतु-अनुभवगोचरीकरोतु, कं ? तमेव-स्वभावं, शुद्धनिश्चयनयोक्तत्वात्, यथोक्तस्वभावं, अथवा स्वभावं-स्वपदार्थं-स्वशुद्धचिद्रूपमित्यर्थः, सम्यक्-यथोक्ततया, किंभूतं ? समंतात्-सामस्त्येन, द्योतमानं-लोकप्रकाशमानं, किं कृत्वा ? अपगतमोहीभूय-अपगतमोहोभूत्वा-विनष्टमोहो भूत्वेत्यर्थः। यत्र-आत्मनि, अमी, बद्धेत्यादि-बद्धः कर्मनोकर्मभ्यां संश्लेषरूपेण बंधेन बद्धः, स्पृष्टः-विस्रसोपचयादिपरमाणुभिः अन्यैश्च संयोगमात्रतया स्पृष्टः, बद्धश्च स्पृष्टश्च बद्धस्पृष्टौ तावेवादिर्येषामन्यत्वादीनां ते च ते भावाश्च ते तथोक्ताः, एत्य-आगत्य-

भावार्थ- पहले सम्यग्दर्शनकूं प्रधानकरि कह्या था अब ज्ञानकूं प्रधानकरि कहे हैं—जो यह शुद्धनयका विषयस्वरूप आत्माकी अनुभूति है सोही सम्यग्ज्ञान है ॥

अखंडितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितं ॥१४॥

टीका-तत् अस्तु भवतु, किं तत् ? परमं महः-जगदुत्कृष्टं ज्योतिः जगत्प्रकाशकत्वात्, केषां ? नः-अस्माकं, किं भूतं ? अखंडितं न खंडितं अखंडं, केनापि प्रमाणेन द्वैधित्रैधादिविस्तारस्वरूपस्य खंडयितुमशक्यत्वात्, "सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते" इति वचनात्, अनाकुलं न केनापि व्याकुलीकृतं तत्स्वरूपस्य केनापि पुद्गलादिसंयोगेनास्पृष्टत्वात्, जलेन विशदीपवत्, भूयः किंभूतं ? अनंतं न विद्यते, अंतो-विनाशो यस्य तत्, तद्गुणाविर्भावेन विनाशरहितत्वात्, अंतः अभ्यंतरे, बहिः बाह्ये, ज्वलत्-देदीप्यमानं, बहिरंतः स्वरूपप्रकाशकत्वात्, सहजं-स्वाभाविकं, केनापीश्वरादिनाऽकृत्रिमत्वात्, सदा-निरंतरं, उद्विलासं उत्-ऊर्ध्वं तनुपातपर्यये विलासः-सुखानुभवनं अथवा उदयमानो विलासो यस्य तत्, चिदुच्छलननिर्भरं-चितश्चैतन्यस्य, उच्छलनं तेन निर्भरं, प्रवर्धमाननित्यस्वभावत्वात्, यत्-परंज्योतिः-सकलकालं-पूर्वापरवर्तमानकालं, एकरसं शुद्धपरमात्मरसं, आलंबते-अवलंबयति, लवणरसवत्-यथैव हि व्यंजनलुब्धानामबुद्धानां लोकानां विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातस्य सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानं लवणं स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां, तथैव ज्ञेयलुब्धानामबुद्धानां विचित्रप्रमेयाकारकरंवितसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानं स्वदते न पुनस्तदन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां, ज्ञानिनां-केवललवणरसिकानां तु तदेकं स्वदते । भूयः किंभूतमिति पदं सर्वत्र विशेषणे योज्यं, उल्लसदित्यादि-उल्लसन्- उल्लासं गच्छन्, स चासौ लवणखिल्यश्च-लवणखंडं तस्य लीला, तद्वदायतं-विस्तृतं । यथा-अलुब्धबुद्धानां केवलः सैंधवखिल्यः परद्रव्यसंपर्कराहित्यैनैवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते तथात्मापि सकलपरद्रव्यवैकल्येन केवल एव कलपमानः सर्वतोप्यद्वितीयविज्ञानघनत्वाद् बोधत्वेन स्वदते ॥ १४ ॥ अथ तस्यैवोपासनं संधत्ते—

अर्थ—आचार्य कहे हैं, जो, तत् कहिये सो परम उत्कृष्ट मह कहिये तेज प्रकाशरूप हमारे होऊ, जो सदाकाल चैतन्यका उछलन कहिये परिणमन ताकरि भरया, जैसें लूणकी डली एक क्षाररसकी लीलाकूं आलंबन करे है, तैसें

एक ज्ञानरसस्वरूपकूं आलंबन करे है। बहुरि सो तेज कैसा है ? अखंडित है, जार्मे ज्ञेयनिके आकारूप नाहीं खंडते है। बहुरि कैसा है ? अनाकुल है, जार्मे कर्मके निमित्ततैं भये रागादिक तिनिकरि भई जो आकुलता सो नाहीं है। बहुरि कैसा है ? अंतर्बहिरनंतं ज्वलत् कहिये अंतरहित अविनाशी जैसें होय तैसें अंतरंग तौ चैतन्यभावकरि देदीप्यमान अनुभवमें आवे है अर बाह्य वचनकायकी क्रियाकरि प्रगट देदीप्यमान हो है, जान्या जाय है । बहुरि सहज कहिये स्वभावकरि भया है, काहूने रचा नाहीं है। बहुरि सदा उद्विलासं कहिये निरंतर उदयरूप है विलास जाका एकरूप प्रतिभासमान है। भावार्थ–आचार्यने प्रार्थना करी है, जो, यह स्वरूप ज्योतिर्ज्ञानानन्दमय एकाकार हमारे सदा प्राप्त रहो, ऐसा जानना ॥ १४ ॥

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यतां ॥ १५ ॥

सं० टी०–एष आत्मा-चिद्रूपः, नित्यं-सदा, समुपास्यतां-सेव्यतां-ध्यायतामित्यर्थः, कैः ? सिद्धिं-स्वात्मोपलब्धिं, 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिरिति' वचनात् अभीप्सुभिः-आप्तुमिच्छुभिः, किंभूतः ? ज्ञानघनः-बोधपिंडः, एकः, योऽद्वितीयः साध्यसाधकभावेन-साध्यश्च साधकश्च तौ, तयोर्भावेन-स्वभावेन, स एव आत्मा ध्येयरूपतया साध्यः, स एव ध्यायकरूपतया साधकः। नत्यन्य-साध्यः नत्यन्यश्च साधकः, तेन स्वरूपेण द्विधा- द्विप्रकारः ॥ १५ ॥ अथात्मनस्त्रित्वमेकत्वमाह–

अर्थ–यहु पूर्वोक्त ज्ञानस्वरूप नित्य आत्मा है, सो सिद्धि जो स्वरूपकी प्राप्ति ताके इच्छकपुरुषनिकरि साध्यसाधकभावके भेदकरि दोय प्रकारकरि एकही सेवनेयोग्य है, सो सेवो ॥ भावार्थ–आत्मा तौ ज्ञानस्वरूप एकही है, परंतु याका पूर्णरूप साध्यभाव है अर अपूर्णरूप साधकभाव है, ऐसैं भावभेदकरि दोय प्रकारकरि एक ही सेवना ॥ १५ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥ १६ ॥

सं० टी०–आत्मा-परमात्मा, समं-युगपत्, मेचकः-विचित्रस्वभावः, कुतः ? दर्शनज्ञानचारित्रैः कृत्वा त्रित्वात्-त्रिस्वभावत्वात् । अपि च, अमेचकः-विचित्रस्वभावरहितः, कुतः ? स्वयं-स्वतः-एकत्वतः-एकस्वभावत्वात्, । ननु यः एकस्वभावः

[illegible] परस्परविरोधात् ? इति चेत् प्रमाणतः-प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणतः, एकानेकस्वभावत्वसा-[illegible] दर्शनादित्रयं आत्मैव, वस्त्वंतराभावात्। देवदत्तस्य यथा श्रद्धानं, ज्ञानं, आचरणं, तत्स्वभावा-[illegible] स्वभाव एव न वस्त्वंतरं, तथात्मन्यपि त्रितयं तत्स्वभावानतिक्रमात् आत्मा एव न वस्त्वंतरं, मेचक-[illegible] ॥ १६ ॥ अथ मेचकामेचकत्वमात्मनः पद्यत्रयेण विवृणुते—

अर्थ- यह आत्मा प्रमाणदृष्टिकरि देखीये तब एककाल मेचक कहिये अनेक अवस्थारूप भी है अर अमेचक कहिये एक अवस्थारूप भी है। जातैं याकै दर्शनज्ञानचारित्रकरि तौ तीनपणा है बहुरि आपकरि आपकै एकपणा है। भावार्थ-प्रमाणदृष्टिमें त्रिकालस्वरूप वस्तु द्रव्यपर्यायरूप देखिये है, तातैं आत्मा भी युगपत् एकानेकस्वरूप देखना।१६। आगैं नयविवक्षा कहे हैं—

विशेष— आत्माके मेचकत्व अमेचकत्वमें देवदत्तके दर्शन आदि या त्रिज्ञान भी दृष्टांत समझलेना चाहिये अर्थात् जिसप्रकार देवदत्तके दर्शन ज्ञान आदि पदार्थ भिन्न २ प्रतीत होते हैं परंतु वास्तवमें वे देवदत्तके स्वभाव होनेसे दूसरे पदार्थ नहीं उसीप्रकार आत्माके दर्शन आदि जुदे २ मालूम पड़ते हैं और उनसे वह तीन स्वरूप जान पडता है परंतु ये उसके स्वभाव ही हैं भिन्न पदार्थ नहीं इसलिये वह एकही स्वरूप है। तथा हरा पीला काला आदि रंगोंका समूह चित्र (चितकवरा) कहा जाता है सो जिसप्रकार वहां जुदे २ रंगोंकी अपेक्षाकी जाय तो अनेक स्वरूपता और समूहकी अपेक्षाकी जाय तो एक रूपता सिद्ध होती है उसीप्रकार दर्शन आदिकी भिन्न २ विवक्षासे आत्मा अनेकरूप सिद्ध होता है और वे आत्मासे जुदे पदार्थ नहीं उसीके स्वभाव हैं ऐसा निश्चयनयसे विचारनेपर आत्मा एकरूप ही निश्चित होता है ॥ १६ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥ १७ ॥

सं० टी०-आत्मा, एकोऽपि-चैतन्यैकस्वभावेनाद्वितीयः, व्यवहारेण-व्यवहारदशायां, मेचकः-नानास्वभावः, त्रिस्वभावत्वात् त्रयः-दर्शनादिलक्षणाः, स्वभावा यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् त्रिस्वभावत्वं। किं कृत्वा ? त्रिभिः-त्रिसंख्याकैः, दर्शनज्ञानचारित्रैः-आत्मश्रद्धानावबोधानुचरणैः, ॥ १७ ॥

अर्थ-व्यवहारदृष्टिकरि देखिये तब आत्मा एक है तौऊ तीन स्वभावपणाकरि मेचक कहिये अनेकाकाररूप है। जातैं दर्शन ज्ञान चारित्र इनि तीन भावनिकरि परिणमै है ॥ भावार्थ-शुद्धद्रव्यार्थिकनयकरि आत्मा एक है इस नयकूं

प्रधानकरि कहिये तब पर्यायार्थिक नय गौण भया, सो एक कूं तीनरूप परिणमता कहता सोही व्यवहार भया असत्यार्थ भी भया ऐसें व्यवहारनयकरि दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामकरि मेचक कह्या है ॥ १७ ॥ अब परमार्थनयकरि कहे हैं—

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।
सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥ १८ ॥

सं० टी०–तु-पुनः, आत्मा एककः-एक इति संज्ञा यस्य सः संज्ञायां कप्रत्ययविधानात् । अथवा एक एव, एककः, परमार्थेन- द्रव्यादेशतया, अमेचकः-अखंडैकस्वभावः । केन ? व्यक्तेत्यादि-व्यक्तं-स्पष्टं, तच्च तज्ज्ञातृत्वं-बोधकत्वं तदेव ज्योतिः-महः तेन कृत्वा । कुतः ? सर्वेत्यादि-सर्वे च ते भावांतराश्च अन्यपदार्थाः, तान् ध्वंसयति विनाशयति ततो विविक्तो भवतीत्येवं शीलः स्वभावो यस्य स, तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ॥ १८ ॥ अथात्मनः साध्यं प्रतिफलते-

अर्थ–परमार्थ जो शुद्धनिश्चयनय ताकरि देखिये तब प्रगट ज्ञायकज्योतिर्मात्रकरि आत्मा एकस्वरूप है । जातें याका शुद्धद्रव्यार्थिकनयकरि सर्वही अन्यद्रव्यके स्वभाव तथा अन्यके निमित्तैं भये विभाव, तिनिका दूरि करनेरूप स्वभाव है, यातें अमेचक है, शुद्ध एकाकार है । भावार्थ–भेददृष्टिकूं गौण कहि अभेददृष्टिकरि देखीये तब आत्मा एकाकार ही है, सो ही अमेचक है ॥१८॥ आगें प्रमाणनयकरि मेचक अमेचक कह्या सो इस चिंताकूं मेटि, जैसें साध्यकी सिद्धि होय तैस करना यह कहे हैं—

विशेष–स्पष्ट भाव इस श्लोकका यह है कि अखंड ज्ञानका धारक, समस्त कर्मोंसे रहित, एक, शुद्ध ही यह आत्मा परभाव और परभावोंके विकारोंसे रहित होनेके कारण शुद्धनिश्चयनयसे अमेचक कहा जाता है ॥ १८ ॥

आत्मनश्चिंतयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥ १९ ॥

सं० टी०—आत्मनः-चिद्रूपस्य, मेचकामेचकत्वयोः-एकत्वानेकत्वयोः-शुद्धत्वाशुद्धत्वयोर्वा, चिंतयैव-चिंतनेनैव, विचारणेनेत्यर्थः, अलं पूर्यतां, तद्विचारणे न किमपीत्यर्थः । तर्हि कुतः साध्यसिद्धिः ? दर्शनज्ञानचरित्रैः-आत्मश्रद्धानावबोधानुचरणैः साध्यो-मोक्षः भव्यात्मनां मुक्तेरेव साध्यत्वात्, तस्य सिद्धिर्दर्शनज्ञानचारित्रैर्भवतीत्याध्याहार्यं, अन्यथा तत्-श्रद्धानादिमंतरेण साध्य-

[illegible] रोगो वनीवच्यते नान्यथा तथा-
[illegible] ॥ १९ ॥ [illegible] नुपनीयते—

अर्थ— यह आत्मा मेचक है, भेदरूप अनेकाकार है, तथा अमेचक है, अभेदरूप एकाकार है। ऐसी चिंताकरि तो पूर्ण पडौ, साध्य आत्माकी तो सिद्धि है सो दर्शन ज्ञान चारित्र इनि तीनि भावनिकरि ही है, अन्यप्रकार नाहीं है यह नियम है। भावार्थ- आत्माकी शुद्ध[illegible]करि सिद्धि भया ऐसा शुद्धस्वभाव साध्य है, सो पर्यायार्थिकस्वरूप [illegible] साधिये है, तातैं ऐसैं कहा है, जो भेदाभेदकी कथनी करि कहा, जैसैं साध्यकी सिद्धि होय तैसैं कहा, [illegible] पर्यायहीमें समावे है। तातैं दर्शनज्ञानचारित्र तीन परिणाम हैं सोही आत्मा है। ऐसैं भेदप्रधान-करि अभेदकी सिद्धि करनी कही ॥ १९ ॥

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छं ।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥ २० ॥

[illegible]—अनुभवामः-अनुभवविषयीकुर्मः, किं तत् ? इदं-संवेद्यमानं सुखादिभिः, आतमज्योतिः-परं महः, कियंतं कालं ? सततं निरंतरं, किंभूतं तत् ? कथमपि-केनचित्प्रकारेण-रत्नत्रयात्मलक्षणेन, समुपात्तत्रित्वमपि-सं-सम्यक्, उपात्तं-गृहीतं, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रित्वं त्रयात्मकत्वं येन तत्, ईदृक्षमपि एकतायाः चैतन्यैकस्वभावायाः सकाशात्, अपतितं--अभिन्नं, [illegible], पुनः किं भूतं ? उद्गच्छत्-ऊर्ध्वगमनस्वभावं, उत् ऊर्ध्वं-अग्रेऽग्रे गच्छति जानातीति, उद्गच्छत् [illegible], ऊर्ध्वगमनस्वभावत्वात्, विशुद्धिविशेषादग्रे ज्ञानस्य प्राचुर्याच्च। पुनः किं भूतं ? अच्छं निर्मलं कर्मकर्दमरहितत्वात्, अनंतेत्यादि-अनंतं-विनाशरहितं, चैतन्यं-चेतनस्वभावः, तदेव चिन्हं लक्ष्म यस्य, तत् । कुत एतत् अनुभवामः ? यस्मात्-यतः कारणात् अन्यथा-आतमानुभवमंतरेण, साध्यसिद्धिः-साध्यस्य-चिद्रूपलक्षणस्य, सिद्धिः-प्राप्तिः-, न खलु न खलु (न खलु) निश्चयेन नैव भवतीत्यर्थः । 'वीप्सार्थोयमतिशयेन निषेधकः । अधिकवचनं च किंचिदभीष्टं ज्ञापयत्याचार्यः तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या चात्मनः साध्यसिद्धिर्नान्यथा, आत्मानुभवनेनैव मुक्तिप्राप्तिरिति तथोपपत्तिः, तदनुभवनमंतरेण कदाचित्क्वचिदपि कस्यचित् न तत्सिद्धिरित्यन्यथानुपपत्तिः ॥ २० ॥ अथ तल्लाभलंभनं स्तौति—

अर्थ—आचार्य कहे हैं, जो यह आतमज्योति है, ताहि हम निरंतर अनुभवे हैं। कैसा है ? अनंत अविनश्वर जो चै-

तन्य सो है चिह्न जाका, काहेते अनुभवे हैं ? जातैं याके अनुभवविना अन्यप्रकार साध्य आत्माकी सिद्धि नाहीं है। ऐसा नियम है। कैसा है यह आत्मज्योति ? कथंचित्प्रकार अंगीकार किया है तीनपणा जानैं, तौऊ एकपणातैं च्युत न भया है। बहुरि कैसा है ? निर्मल जैसैं होय तैसैं उदयकूं प्राप्त होता है। भावार्थ–आचार्य कहे हैं-कोई प्रकार पर्यायदृष्टिकरि जाकै तीनपणा प्राप्त है, तौऊ शुद्धद्रव्यदृष्टिकरि जो एकपणातैं नाहीं च्युत भया है, ऐसा आत्मज्योति अनंत चैतन्यस्वरूप निर्मल उदयकूं प्राप्त होता, ताहि हम निरंतर अनुभवे हैं। ऐसैं कहनेतैं ऐसा भी आशय जानिये, जो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं, ते ऐसैं ही अनुभव करौ, जैसैं हम अनुभवे हैं ऐसैं जानना। आगैं कोऊ तर्क करे है, जो, आत्मा तो ज्ञानतैं तादात्म्यस्वरूप है, जुदा नाहीं, तातैं ज्ञानको नित्य सेवै ही है। ज्ञानका उपासने योग्यपणाकरि याकूं काहेतैं शिक्षा दीजिये है ? तहां आचार्य कहे हैं, जो-यह ऐसैं नाहीं है, तातैं आत्मा ज्ञानकरि तादात्म्यरूप है, तौऊ एक क्षणमात्र भी ज्ञानकूं नाहीं सेवै है। जातैं स्वयंबुद्धत्व कहिये आपहीकरि जाननेतैं तथा बोधितबुद्धत्व कहिये परके जनावनेकरि-याकै ज्ञानकी उत्पत्ति होय है। कै तौ काललब्धि आवै तब आप ही जाणि ले, कोई उपदेश देनेवाला मिलै तब जाणै, जैसैं सूता पुरुष कै तो आप ही जागै, कै कोई जगावै तब जगैगा। ऐसैं इहां फेरि पूछै हैं, जो ऐसैं है तो, जाननेका कारण पहली आत्मा अज्ञानी ही है। जातैं सदा ही याकै अप्रतिबुद्धपणा है। तहां आचार्य कहे हैं, यहु ऐसैं ही है, अज्ञानी ही है। बहुरि फेरि पूछै हैं, जो यह आत्मा केतै एककाल अप्रतिबुद्ध है सो कहौ ? तहां आचार्य कहे हैं–

विशेष–पं. जयचंद्रजीने 'उद्गच्छदच्छं' इन पदोंका अर्थ उत्तरोत्तर निर्मल होता हुआ उदयको प्राप्त होता है ऐसा किया है और भ. शुभचंद्रजीने उद्गच्छत्-इसका अर्थ ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला वा उत्तरोत्तर विशेष ज्ञानवान होता चला जाता है क्योंकि जिससमय समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है उससमय स्वभावसे ही यह ऊर्ध्वगमन करता है अथवा विशुद्धि विशेषसे उत्तरोत्तर ज्ञानमें अधिकता होती जाती है यह अर्थ किया है एवं अच्छका अर्थ कर्ममलसेरहित बतलाया है। तथा ग्रंथकारने न खलु न खलु पदोंका दो बार उच्चारण किया है उनसे भट्टारक शुभचंद्रजीने-'अधिकका फल अधिक' होता है इस न्यायके अनुसार साध्यसिद्धि और आत्मानुभवमें तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति-अन्वय व्यतिरेक भी बतलाया है-अर्थात् आत्माके अनुभवसे ही मोक्ष प्राप्त होता है विना उसके अनुभवके मोक्षप्राप्ति नहिं हो सकती ॥ २० ॥

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूलामचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।

[illegible] मुहूर्तं [illegible], मूर्तेः शरीरस्य, पार्श्ववर्ती निकटवर्ती, भव, तच्छरीरस्वभावावलोकनार्थं, । अथ मृत्वा पार्श्व-
[illegible], अनुभव अनुभवगोचरीकुरु [illegible] कुर्वित्यर्थः । किं कृत्वा ? समालोक्य दृष्ट्वा पृथग्-
[illegible] शरीरावस्थाज्ञानादिपरिणतावस्थामवलोक्य स्वस्वरूपे
[illegible], मूर्त्या शरीरेण, साकं, सह एकत्वमोहं 'ममेदं शरीरं, शरीरस्याहमित्येकत्वलक्षणं
मोहं [illegible]। ननु शरीरमेवात्मा, तद्व्यतिरिक्तस्य कस्य चिदात्मनोऽनुपलभ्यमा-
[illegible] इति युक्तिमुद्राव्य मिथ्यात्मवादिनं योगिनं प्रति कश्चिद्-
[illegible] इति पद्यमुत्पद्यते —

अर्थ—अयि ऐसा कोमल आमन्त्रण संबोधन अर्थमें अव्यय है, ताकरि कहे हैं—भाई ! तू कथमपि कहिये कोई ही प्रकारकरि बड़ा यत्नकरि तथा मरिकरि तत्त्वनिका कौतूहली हुवा संता, इस शरीरादि मूर्तद्रव्यका एक मुहूर्त दोय घडी पाडोसी होइ, अर आत्माका अनुभव करि । जाकरि अपने आत्माकूं विलासरूप सर्व परद्रव्यतैं न्यारा देखिकरि इस शरीरादिमूर्तिक पुद्गलद्रव्यकरि सहित एकपणाका मोहकूं शीघ्रही छोडैगा । भावार्थ—जो यह आत्मा दोय घडी पुद्गलद्रव्यतैं भिन्न अपना शुद्धस्वरूपकूं अनुभवै तामैं लीन होय परीषह आये चिगै नाहीं, तौ घातिकर्मका नाशकरि केवलज्ञान उपजाय मोक्षकूं प्राप्त होय । आत्मानुभवका ऐसा माहात्म्य है तो मिथ्यात्वका नाशकरि सम्यग्दर्शनका प्राप्त होना तौ सुगम है । तातैं श्रीगुरुनिनैं यह ही प्रधानकरि उपदेश कीया है ।

विशेष—'कथमपि मृत्वा' यहांपर पं. जयचंद्रजीने 'कथमपि' अर्थात् किसीप्रकारसे-बडे कष्टसे वा मृत्वा अर्थात् मर कर भी यह अर्थ किया है और भट्टारक शुभचंद्रजीने कथमपि अर्थात् किसीप्रकारसे माया छल कपट आदिसे मृत्वा अर्थात् च्युत्वा-रहित होकर यह अर्थ किया है । और मृत्वाके च्युत्वा अर्थ करनेमें यह युक्ति भी दी है कि साक्षात् मरणके होजाने पर उसके बाद तत्त्व का अवलोकन होना असंभव है इसलिये यहां च्युत्वा अर्थ ही युक्तियुक्त है । इन दोनों अर्थोंमें पं. जयचंद्रजीका अर्थ जरा खटकता है क्योंकि इन्होंने कथमपि और मृत्वा पदको आपसमें न मिलाकर अर्थ किया है जो प्रकृतमें असमंजस सरीखा जान पडता है परंतु उसका असली भाव 'संसारमें मरणके समान अन्य कोई कष्ट नहीं यह मानकर ग्रंथकारने मूर्तिक शरीर आदि पदार्थोंके विचार करनेमें और आत्माके अनुभव करनेमें अन्य कष्टकी तो क्या बात ? 'यदि किसी प्रकारसे मरण भी हो जाय तथापि' यह है ॥२३॥

कांत्यैव स्नपयंति ये दश दिशो धाम्ना निरुंधंति ये धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण न।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः॥

सं० टी०–ते-प्रसिद्धाः, नाभेयादयस्तीर्थश्वराः-श्रुतज्ञानलक्षणतीर्थनायकाः वंद्याः, नमस्करणीयाः, ये-भगवंतः, कांत्यैव-द्युत्या एव–केवलं, दश दिशः-ककुभः, स्नपयंति-प्रक्षालयंति, स्वकांत्यैव समस्ता दिशः प्रकटयंतीत्यर्थः। ये-जिनाः धाम्ना-घातिकर्मक्षयोत्पन्नकोटिसूर्याधिकशरीरतेजसा, उद्दाममहस्विनां-अमर्यादीभूततेजस्विनां, स्वर्ण-रत्न-मुक्ताफल-नक्षत्र-विमान-सूर्य-चंद्र-दीपाग्न्यादीनां, धाम-तेजः, निरुंधंति-निवारयंति,-स्वल्पीकुर्वंतीत्यर्थः। तथा चोक्तं—

आकस्मिकमिव युगपद्दिवसकरसहस्रमपगतव्यवधानं। भामंडलमिव भावितरात्रिंदिवभेदमतितरामाभाति॥ १॥ इति।

ये रूपेण कृत्वा जनमनः-त्रिलोकनिवासिप्राणिचित्तं, मुष्णंति-हरंति, तच्चित्ताकर्षणं कुर्वंतीत्यर्थः। किंभूतास्ते ? सुखं उभयोः शर्म यथा भवति तथा, श्रवणयोः-कर्णयोः, साक्षात्-प्रत्यक्षं, अमृतं-धर्मसुधां संसारदुःखतापहारित्वात् क्षरंतः–स्रवंतः, केन ? दिव्येन-अन्यजनातिशायिना, ध्वनिना-तीर्थंकरपुण्यकर्मातिशयविजृंभमाणध्वनिना, पुनः किंभूताः ? अष्टेत्यादि-अष्टाभिरधिकानि सहस्राणि तानि च तानि लक्षणानि वज्र-कुशेशय-तोरण-छत्राकारादीनि तेषां धराः-धारकाः, ते तथोक्ताः नवशतव्यंजनोपलक्षिताष्टशतलक्षणलक्षितत्वात् तथा च सूरयः-आचार्याः, वंद्याः, ॥ २५॥ अथ कथं कांत्येत्यादिशरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यते, इत्युक्ते प्रत्युत्तरयति पद्यद्वयेन—

अर्थ–ते तीर्थंकर आचार्य वंदिवे योग्य हैं कैसे हैं ते ? अपनी देहकी कांतिकरि तौ दशदिशानिकूं स्नपन करे है। धोवे हैं, निर्मल करे हैं। बहुरि अपने तेजकरि तेजतैं उत्कृष्ट जो सूर्यादिक तेजस्वी तिनिका तेजहू रोके हैं। बहुरि ते रूपकरि लोकनिके मनकूं हरे हैं। बहुरि दिव्यध्वनिवाणीकरि काननविषैं साक्षात् सुख अमृत वर्षावे हैं। बहुरि एक हजार आठ लक्षणनिको धारे हैं। इत्यादिक तीर्थंकर आचार्यनिकी स्तुति है सो सर्वही मिथ्या ठहरे है। तातैं हमारै तौ यह ही एकांतकरि निश्चयप्रतिपत्ति है, जो, आत्मा है सो ही शरीर है पुद्गलद्रव्य है, ऐसा अप्रतिबुद्धने कह्या। तहां आचार्य कहे हैं, जो ऐसा नहीं है–तू नयविभागका जाननेवाला नाहीं है।

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलं।

रूप तिष्ठया है सर्वांग जामैं, बहुरि कैसा है? अपूर्व स्वाभाविक है अर जन्महीतैं लेकरि उपजा है लावण्य जामैं। भावार्थ-सर्वकूं प्रिय लागे है, बहुरि कैसा है? समुद्रकी ज्यों क्षोभरहित है, चलाचल नाहीं है। ऐसैं शरीरका स्तवन करने भी तीर्थंकर केवलीपुरुषके शरीरका अधिष्ठातापणा है, तौऊ सुस्थित सर्वांगपणा अर लावण्यपणा आत्माका गुण नाहीं। तातैं तीर्थंकर केवलीपुरुषके इनि गुणनिका अभावतैं याका स्तवन न होय। अब जैसैं तीर्थंकर केवलीकी निश्चयस्तुति होय तैसैं कहे हैं-तहां प्रथम ही ज्ञेयज्ञायकके संकरदोष आवे ताका परिहार करि स्तुति कहे हैं। अब इहां इस निश्चय-व्यवहाररूप स्तुतीके अर्थके कलशरूप काव्य कहे हैं—

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चयान्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवेन्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः॥

सं० टी०—कायात्मनोः-देहदेहिनोः, एकत्वं-कथंचिदेकता, व्यवहारतः-व्यवहारनयमाश्रित्य, लोकव्यवहारं वा 'आत्मकर्म-घट्टाभोकर्मरूपेण पुद्गलस्कंधबंधो देहः, कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहारवत् नीरक्षीरवद्वा, पुनः निश्चयात्-निश्चयनयमाश्रित्य नैकत्वं, तयोः परस्परं भिन्नत्वात्। त्वित्यधिकपदं विशेषज्ञापकं, निश्चयाद्धि देहदेहिनोः अनुपयोगोपयोगरूपयोः, कनककलधौतयोः पीतपांडुत्वस्वभावयोरिव, अत्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेर्नानात्वं, एवं किल नयविभाग इति अतः कारणात् वपुषः-शरीरस्य स्तुत्या-स्तवनेन, शरीरगुणवर्णनेन, नुः-आत्मनः, स्तोत्रं-स्तवनं, अस्ति-भवति, कुतः-व्यवहारतः-व्यवहारनयात्, तत् स्तोत्रं निश्चयात्-परमार्थतः, न हि। ननु आत्मस्तोत्रं कथं? निश्चयतः-परमार्थतः, चितः-चिद्रूपस्यात्मनः, स्तोत्रं-स्तवनं गुणवर्णनमित्यर्थः भवति-अस्ति, कया? चित्स्तुत्यैव चिद्रूपस्यामूर्तोखंडज्ञानदर्शनाद्यनंतगुणस्तवनेन, एवं निश्चयस्तुतिरेव, आत्मस्तुतिः, एवं सति सा निश्चयस्तुतिः स्तुतिर्भवेत्। अतः-आत्मशरीरयोर्भिन्नत्वसमर्थनात्, एकत्वं-अभिन्नत्वं न भवतीत्यर्थः कयोः? आत्मांगयोः-चिद्रूपदेहयोः, कुतः? तीर्थेत्यादिः-तीर्थकरस्य-नाभेयादिजिनस्य, स्तवः-अष्टप्रातिहार्यादिगुणवर्णनं, तीर्थ-करशरीरगुणवर्णनमेवं परमार्थस्तवनमिति प्रत्युत्तरबलाधानात् एकत्वं न कदाचन॥ २७॥ अथैकत्वनिरासमुपसंहरति-

अर्थ-कायके अर आत्माके व्यवहारनयकरि एकपणा है। बहुरि निश्चयनयकरि एकपणा नाहीं है। याहीतैं शरीर-के स्तवनतैं आत्मा पुरुषका स्तवन व्यवहारनयकरि भया कहिये, अर निश्चयतैं न कहिये। निश्चयतैं तौ चैतन्यके स्तवन-तैं ही चैतन्यका स्तवन होय है। सो चैतन्यका स्तवन इहां जितेंद्रिय, जितमोह, क्षीणमोह ऐसैं कह्या तैसैं होय है।

[illegible] ताका यह नयविभागकरि उत्तर दिया, ताके बल- [illegible] हीं है ॥ फेरि याही अर्थके जाननेकरि भेदज्ञानकी सिद्धि होय है ऐसी [illegible] है—

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां नयविभजनयुक्त्यात्यंतमुच्छादितायां ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥ २८ ॥

[illegible] बोधः-भेदविज्ञानं, बोधं-बुध्यते-जानातीति बोधः-आत्मा, अथवा [illegible] प्रादुर्भवत्येव । किंभूतः सः ? स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः, रसः-ज्ञान- [illegible] इत्यर्थः । भूयः किंभूतः ? प्रस्फुटन्-प्रकर्षेण निर्मलीभवन्-प्रकटी- [illegible] आत्मानं प्रत्यक्षयितुं न कश्चिरक्षमः, इत्यर्थः । क सत्यां-आत्मेत्यादिः-आत्मा च कायश्च [illegible] सत्यां, कया ? नयेत्यादि नयस्य-निश्चयव्यवहारलक्षणस्य [illegible] ? इति पूर्वोक्तप्रकारेण परिचितं-परीचयीकृतं, तत्त्वं-शुद्धचिद्रूपल- [illegible] ॥ २८ ॥ [illegible] इति संतन्यते—

अर्थ ऐसै परिचयरूप कीया है वस्तुका यथार्थस्वरूप जिनिनें ऐसैं मुनीनें आत्मा अर शरीरके एकपणाकूं नयके विभागकी युक्तिकरि अत्यंत उच्छादन कीया निषेध्या है याकै होतैं तत्काल ज्ञान है सो यथार्थपणाकूं कौन पुरुषके [illegible] न पावै [illegible] पावैही पावै ॥ कैसा होयकरि ? अपना निजरसका वेगकरि खेंच्या हूवा प्रगट होता एक [illegible] होयकरि ॥ भावार्थ-निश्चयव्यवहारनयके विभाग करि आत्माका अर परका अत्यंत भेद दिखाया, सो याकूं जानिकरि, ऐसा कौन पुरुष है जाकै भेदज्ञान न होय होयही होय । जातैं ज्ञान है सो अपना स्वरस करि आप अपना स्वरूप जानै, तब अवश्य आप न्यारा ही अपने आत्माकूं जनावै है ॥ इहां कोई दीर्घसंसारीही होय तो ताका कछू कहना है नाहीं ॥ ऐसैं अप्रतिबुद्धने कहा था, जो " हमारै तो यह निश्चय है, जो देह है सोही आत्मा है " ताका निराकरण किया । आगै कहै हैं, जो, ऐसैं यहु अप्रतिबुद्ध अज्ञानी जीव अनादिके मोहके संतानकरि निरूपण कीया जो आत्माका अर शरीरका एकपणा, ताका संस्कारपणाकरि अत्यंत अप्रबुद्ध था, सो अब प्रगट उदय भया है तत्त्वज्ञान-

अंक १

३२

है नहिं जानपडता ऐसा क्यों हुआ ! अथवा उन्हें प्रथमांत पद ही मिला था तो 'आत्मा' का ही विशेषण करना योग्य था फिर 'दर्शनज्ञानवृत्तैः' का विशेषण क्यों किया ? यदि दोनों पाठ मिले थे तो उन्हें पक्षांतर लिखकर स्पष्ट लिखदेना चाहिये था फिर ऐसा क्यों नहिं किया ! क्योंकि 'प्रकटितपरमार्थैः' इस पदको तृतीयांत वा प्रथमांत दोनोंके माननेमें दोष नहिं आसकता। इसलिये हमारी समझमें लेखक महाशय ही यहां एक दो पंक्ति भूल गये हैं। क्योंकि इतनी छोटी अशुद्धि भट्टा. शुभचंद्रजी सरीखे विद्वानोंसे होना असंभव मालूम पडती है। पं० जयचंद्रजीने तो 'प्रकटितपरमार्थैः' को 'दर्शनज्ञानवृत्तैः' काही विशेषण किया है। दूसरे-भट्टा. शुभचंद्रजीने 'आत्माराम एव' यहांपर आत्मा पदको जुदाकर और राम को प्रथमांत मान उसका रमणीय अर्थ कर दिया है और पं० जयचंद्रजीने 'आत्मारामे' ऐसा सप्तम्यंत पद मानकर आत्मारूपी क्रीडावनमें यह अर्थ किया है यद्यपि यहां पदोंकी ओर ध्यान देनेसे पंडित जयचंद्रजीका अर्थ उत्तम प्रतीत होता है और भट्टारक शुभचंद्रजीका अर्थ खटकता सा है परंतु भट्टारक शुभचंद्रजीका अर्थ बडा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने 'उपयोगः, राम आत्मा एव प्रवृत्तः' अर्थात् उपयोग अतिशय सुंदर आत्मस्वरूपही हो गया' इसप्रकार निश्चयनयका अवलंबन किया है जोकि प्रकरणमें सर्वथा कार्यकारी है। और पं० जयचंद्रजीने 'उपयोगः, आत्मारामे' अर्थात् उपयोग आत्मारूपी क्रीडावनमें प्रवृत्त हुआ इसप्रकार व्यवहार नयका आश्रय किया है क्योंकि उपयोग और आत्माकी इन्होंने यहां भेदविवक्षा मानी है ॥ ३१ ॥

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः ॥ ३२ ॥

सं० टी०—उन्मग्नः-उच्छलितः, प्रकटीभूत इति यावत्, कोसौ ? एषः-अवबोधसिंधुः-अवबोधो-ज्ञानं। स एव सिंधुः, अनंतगुणाधारत्वात्' किंकृत्वा ? आप्लाव्य-प्लावयित्वा, निराकृत्येत्यर्थः, कां ? विभ्रमेत्यादिः-विभ्रमो-ममेदमिति मोहः, मद्यवद्भ्रमकारकत्वात्, स एव तिरस्करिणी-यवनिका तां कंटकादिभिर्दुःस्पर्शत्वेन, उभयोरुपमानोपमेययोः सादृश्यत्वात् जलेन सह्यविनाशत्वात्, कथं ? भरेण-अतिशयेन, मज्जंतु-मज्जनं कुर्वंतु, कर्ममलक्षालनहेतुत्वात् तत्र, के ? अमी समस्ताः-सर्वे लोकाः-भव्यजनाः, कथं ? निर्भरं-अत्यर्थं, सममेव-युगपदेव, क्व ? शांतरसे-शांतः-उपशमत्वं, स एव रसः-पानीयं, शम्यस्य पापप्रक्षालनशीलत्वात्, आलोकं त्रिलोकशिखरपर्यंतं, उच्छलति-ऊर्ध्वगमनं कुर्वंति सति-आलोकं व्याप्ते सति, इत्यर्थः। अम्यवारिधिजलस्योच्छलनशीलत्वात् ॥ ३२ ॥

ऐसैं मैं इस लोकविषैं समस्तहीकरि अपने एक आत्मस्वरूपकूं अनुभवूं हूं। कैसा है मेरा स्वरूप? 'सर्वतः' कहिये सर्वांग स्वरसकरि निजरसका चैतन्यका परिणमन, ताकरि पूर्ण भरया ऐसा है भाव जामैं, याहीतैं यह मोह है सो मेरा किछू भी लागता नाहीं है। याके अर मेरे किछू भी नाता नाही है। मैं तो शुद्ध चैतन्यका 'घन' कहिये समूहरूप तेजःपुंजका निधि हूं। भावकभावका भेदकरि ऐसैं अनुभवन करे॥ ३० ॥

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकं।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः॥ ३१ ॥

खं० टी०—अयं उपयोगः ज्ञानदर्शनोपयोगः, स्वयं-स्वरूपेण आत्मा-चिद्रूप एव प्रवृत्तः-प्रवृत्तिं प्राप्तः, क्व सति? इति-पूर्वोक्तप्रकारेण, सर्वैः-समस्तैः, अन्यभावैः-धर्माधर्मादिस्वरूपैः परपदार्थैः, सह-सार्धं, विवेके-पृथग्भावे जाते सति, किंभूतः सन्? बिभ्रत् धरन्, कं? एकं अद्वितीयं, आत्मानं-स्वस्वरूपं, भूयः किंभूतः? कृतपरिणतिः-कृता परिणतिः-परिणमनं-एकता, यस्य सः, कैः सह? दर्शनज्ञानवृत्तैः सम्यग्ज्ञानबोधचारित्रैः, आत्मनस्तन्मयत्वात्, कीदृक्षैस्तैः? प्रकटितपरमार्थैः-परमः-उत्कृष्टः सर्वप्रकाशकत्वात् स चासौ अर्थश्च परमात्मलक्षणोऽर्थ इति यावत्, प्रकटितः-प्रकाशं नीतः परमार्थो येन स तथोक्तः, भूयः किंभूतः? रामः रमणीयः-मनोज्ञः, जगज्ज्येष्ठत्वात्॥ ३१ ॥ अथ ज्ञानसमुद्रे मज्जनादिना जगदुद्युज्यते—

अर्थ- ऐसैं पूर्वोक्तप्रकार भावकभाव अर ज्ञेयभावनितैं भेदज्ञान होतैं, सर्वही जे अन्यभाव तिनितैं भिन्नता भई, तब यह उपयोग है सो, आपही अपने एक आत्माहीकूं धारता संता प्रगट भया है परमार्थ जिनिका, ऐसैं जे दर्शनज्ञान-चारित्र तिनिकरि करी है परिणति जानैं, ऐसा हूवा संता, अपना आत्माराम जो आत्मारूपी बाग क्रीडावन, ताहिविषैं प्रवर्तै है, अन्य जागा न जायगा न जाय है। भावार्थ--सर्वपरद्रव्य तथा तिनितैं भये जे भाव तिनितैं भेद जान्या तब उपयोगकूं रमनेकूं आत्मा ही रह्या, अन्य ठिकाना रह्या नाहीं। ऐसैं दर्शनज्ञानचारित्रतैं एकरूप भया आत्माहीविषैं रमैहै ऐसा जानना॥ आगैं ऐसे दर्शन ज्ञान चारित्र रूप परिणया जो आत्मा ताके स्वरूपका संचेतन कैसा होयहै ऐसा कहता संता आचार्य इसकथनकूं संकोचै है समेटै है—

विशेष-मूलमें ' प्रकटितपरमार्थैः ' यह पद ' दर्शनज्ञानवृत्तैः ' का विशेषण है संस्कृत टीकाकारने भी ऐसा ही किया है परंतु विवरणमें ने इस पदका समासपूर्वक अर्थ करने लगे हैं उससमय उन्होंने उसे प्रथमांतपद मान 'आत्मा' का विशेषण कर दिया

चिह्नं नाहीं प्राप्त होय है ता पहलेही तत्काल सकल अन्यभावनिकरि रहित आपही यह अनुभूति तौ प्रगट होती भई ।
भावार्थ--यह परभावका त्यागका दृष्टांत कह्या, तापरि दृष्टि पडै ते पहलै समस्त अन्यभावनितैं रहित अपना स्वरूपका अनुभवन तौ तत्काल होय गया, जातैं यह प्रसिद्ध है-जो, वस्तूकूं परकी जाने पीछैं ममत्व रहै नाहीं ॥ आगैं या अनुभूति तैं परभावका भेदज्ञान कौन प्रकार भया ऐसी आशंकाकरि प्रथम तौ भावक मोहकर्मका उदयरूप भाव ताका भेद विज्ञानका प्रकार कहै हैं—

विशेष—अन्यभावका दृष्टांत यह यह है कोई पुरुष धोबीसे अन्यका वस्त्र लाकर और भ्रमसे उसे अपना मान ओढकर सो रहा था और उसे जरा भी इसबातका ज्ञान न था कि यह किसी दूसरेका है इतने ही में जिसका वह वस्त्र था वह पुरुष आया और वस्त्रका पल्लड खींचकर और सोते हुये पुरुषको नंगाकर इसप्रकार कहने लगा-जल्दी उठो इसवस्त्रको मुझे दो यह वस्त्र मेरा है बदल गया है । तो जिसप्रकार वह सोता हुआ मनुष्य उसके बार बार उठो २ ये वचन सुनकर और समस्त चिह्नोंसे भले प्रकार परीक्षापूर्वक जानकर कि यह वस्त्र दूसरेका है तत्काल छोड देता है उसीप्रकार यह आत्मा भी परपदार्थोंको अपना मानकर अज्ञानी है मोहकी नींदमें सो रहा है जब श्रीगुरु मोहभावका विवेक कराकर इसे परपदार्थोंसे रहित एकाकी बताते हैं और यह उपदेश देते हैं कि जल्दी प्रतिबुद्ध हो यह आत्मा परभावोंसे रहित एक है तब वह 'आत्मा एक है, आत्मा एक है' ये शब्द बार बार सुनकर और परीक्षापूर्वक परपदार्थोंको निश्चयकर पूर्ण ज्ञानवान हो परपदार्थोंको छोड देता है ॥ २९ ॥

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकं ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥ ३० ॥

सं० टी०—इह—जगति, अहं—आत्मा, स्वयं—आत्मना, स्वं—आत्मानं चेतये—अनुभवामि, उपलभे—जानामीत्यर्थः । किंभूतमात्मानं ? सर्वतः-सामस्त्येन, स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः, रसः-रुचिः-अनुभवनमिति यावत्, तेन निर्भरो भावः स्वभावो यस्य तं, मम-आत्मनः कश्चन-कोऽपि, शरीरादौ मोहः-ममत्वं नास्ति नास्ति-पुनः पुनर्न विद्यते, अस्मि-भवाम्यहं, कीदृक्षः ? शुद्धेत्यादिः-शुद्धा निर्मला कर्मकलंकराहित्यात् सा चासौ चित्-चेतना तया: घनो-निबिडः स चासौ, महोदधिः-महासमुद्रश्च, घनरसानामिव निःशेषगुणानामाधारत्वात् । ३० । अथात्मपरद्रव्ययोर्विवेकं तंतन्यते—

[illegible] कोई पुरुषके नेत्रमें विकार था, तब वर्णादिक अन्यथा दीखे थे, अर जब विकार मिटै, तब [illegible] प्रगट दरसता है. पहलें स्वाधीन आचरनकर्नें जाका, ऐसा भया संता प्रतिबुद्ध भया, तब [illegible] करि ज्ञान अर श्रद्धान करि अर तिनहूं आचरण करनेका इच्छक भया संता पूछे है, जो [illegible] अन्यद्रव्यनिका प्रत्याख्यान कहिये त्यागना, सो कहा होय ? ऐसें पूछते संते आचार्य कहे है सो, ऐसें कहना।

[illegible] स्वर्गीय [illegible] पं. जयचंद्रजीने 'कस्य बोधः बोधं न अवतरति'-इस वाक्यका अर्थ [illegible] पुरुषके अवतार न परै अवश्य अवतार परै ही परै' यह किया है और भट्टारक शुभचंद्रजीने '[illegible] किसकी आत्मामें सम्यग्ज्ञान अवतार नहिं लेता' उस वाक्यका यह अर्थ किया है । हमें भट्टा-रक शुभचंद्रजीका [illegible] अर्थ प्रकृतोपयोगी और विशेष महत्त्वका जान पडता है ॥ २८ ॥

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यंतवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥ २९ ॥

टीका — यावत्-यावत्पर्यंतं, अनवं-सत्यं यथा भवति तथा, अत्यंतवेगात्-अतिशीघ्रं, अपरेत्यादिः-अपरे च ते भावाश्च अपरभावाः अन्यपदार्थाः, तेषां त्यागः-त्यजनं, तदुल्लेखाय यो दृष्टांतः, तत्र दृष्टिः, यथाहि कश्चिन्नरः, रजकात् परकीयमंबर-मादाय संभ्रांत्यात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्, अन्येन तद्वस्त्रस्वामिना तदंचलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्व, अर्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमिति असकृद्वचः शृण्वन्, अखिलैश्चिन्हैः सुपरीक्ष्य परकीयमिति निश्चि-त्याचिरात्, ज्ञानी सन् मुंचति तथा ज्ञातापि परभावान् संभ्रांत्या स्वप्रतिपत्त्यात्मसात्कुर्वन् शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावे विवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्व, एकः खल्वयमात्मा, इत्यसकृत् श्रुतिं श्रौतीं शृण्वन् अखिलैश्चिन्हैः सुप-रीक्ष्य सर्वान् परभावान्निश्चित्य ज्ञानी सन् मुंचति परभावानिति दृष्टांतदृष्टिः, वृत्ति-परभावप्रवृत्तिं प्रति न अवतरति-अवतरणं न करोति तावत्पर्यंतं इयमनुभूतिः-आत्मानुभवज्ञानं, स्वयं-स्वतः, आविर्बभूव-प्रकटीबभूव, झटिति-शीघ्रं । किंभूता ? विमुक्ता-त्यक्ता, कैः ? अन्यदीयैः-परकीयैः, सकलभावैः-सकलचेतनाचेतनपदार्थैः, ॥ २९ ॥ अथ स्वरसं रसामीति रचयति—

अर्थ-यह परभावके त्यागके दृष्टांतकी दृष्टि है सो " पुरानी न पड़े ऐसें जैसें होय तैसें " अत्यंत वेगतैं जेतैं प्रवृ-

अर्थ–यह ज्ञानसमुद्र भगवान् आत्मा है सो विभ्रमरूप आडी चादर थी ताकूं समूलतैं डबोयकरि दूरि करि, आप सर्वांग प्रगट भया है। सो, अब समस्त लोक हैं ते याके शांतरसविर्षे एककाल ही अतिशयकरि मग्न होऊ। कैसा है शांतरस? समस्तलोकताई उछल्या है॥ भावार्थ–जैसें समुद्रके आडा किछू आवै तब जल दीखै नाही, अर जब आड दूरी होय, तब प्रकट होय लोककूं प्रेरणा योग्य होय, जो या जलविर्षे सर्व लोक स्नान करो। तैसें यह आत्मा विभ्रमकरि आच्छादित था, तब याका रूप न दीखे था, अब विभ्रम दूरि भया तब यथार्थस्वरूप प्रगट भया अब याके वीतराग विज्ञानरूप शान्तरसविर्षे एककाल सर्व लोक मग्न होऊ। ऐसें आचार्य प्रेरणा करी है अथवा ऐसा भी अर्थ है, जो आत्माका अज्ञान दूरि होय तब केवलज्ञान प्रगट होय है, तब समस्त लोकमें तिष्ठते पदार्थ एककाल ज्ञानविर्षे आय झलके हैं ताको सर्व लोक देखो। ऐसें इस समयप्राभृतग्रंथविर्षे पहला जीवाजीवाधिकारविर्षे टीकाकार पूर्वरंगस्थल कया।

इहां टीकाकारका आशय ऐसा- जो, इस ग्रंथकूं अलंकारकरि नाटकरूप वर्णन कीया है, सो नाटकविर्षे पहलैं रंगभूमि आखाडा रचिये है। तहां देखनेवाला नायक तथा सभा होय है, अर नृत्य करनेवाले होय हैं ते अनेकस्वांग धरे हैं। तथा शृंगारादिक आठ रसका रूप दिखावे हैं। तहां शृंगार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत ए आठ रस हैं ते लौकिकरस हैं। नाटकमें इनिहीका अधिकार है। नवमा शांतरस है सो अलौकिक है। सो नृत्यमें ताका अधिकार नाहीं है। इनि रसनिके स्थायीभाव, सात्त्विकभाव, अनुभाविकभाव, व्यभिचारिभाव तथा इनिकी दृष्टि आदिका वर्णन रसग्रंथनिमें है सो तो तहांतें जान्या जाय। अर सामान्यपणें रसका यह स्वरूप है-जो, ज्ञानमें जो ज्ञेय आया, तिसतैं ज्ञान तदाकार भया, तातैं पुरुषका भाव लीन होजाय, अन्य ज्ञेयकी इच्छा न रहै सो रस है सो आठ रसका रूप नृत्यमें नृत्य करनेवाले दिखावे हैं। अर इनिका कवीश्वर वर्णन करें जब अन्यरसकूं अन्यरसके समान करि भी वर्णन करें तब अन्यरसका अन्यरस अंगभूत होनेतैं, तथा रसनिके भाव अन्यभाव अंग होनेतैं, रसवत् आदि अलंकारकरि नृत्यका रूप करि वर्णन किया है॥

तहां प्रथम ही रंगभूमिस्थल कीया, तहां देखनेवाला तो सम्यग्दृष्टि पुरुष है, तथा अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुष हैं तिनकी सभा है, तिनकूं दिखावे हैं। अर नृत्य करनेवाले जीव अजीव पदार्थ हैं। अर दोऊका एकपणा तथा कर्तृकर्मपणा आदि तिनिके स्वांग हैं। तिनिमें परस्पर अनेकरूप होय हैं। ते आठ रसरूप होय परिणमे हैं, सो तो

[illegible] हैं, अर मिथ्यादृष्टि जीवाजीवका भेद न जाणे हैं। यातैं इनि [illegible] होय हैं। तिनिकूं सम्यग्दृष्टि यथार्थ दिखाय तिनिका भ्रम मेटि शांतरसमें ति- [illegible] करे हैं। ताकी सूचनारूप रंगभूमिके अंतमें आचार्यने "मज्जंतु निर्भर०" इत्यादि यह काव्य [illegible] वर्णन करी, सो ताकी सूचनारूप यह काव्य है ऐसा आशय सूचे है। सो [illegible] रंगभूमिका वर्णन भया ॥

दोहा—

नृत्य कुतूहल तत्त्वको । मरियविदेखो धाय ॥
निजानंदरसमें छको । आन सबे छिटकाय ॥

इति [illegible], परमाध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयाया व्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरंगः समाप्तः ॥ १ ॥

इसप्रकार पं० जयचंद्रजीकृत परमाध्यात्मतरंगिणीकी भाषा वचनिकामें **पूर्वरंगस्थल** समाप्त हुआ ॥ १ ॥

अथ ज्ञानविलासमाख्याति ।

आगें जीवद्रव्य अर अजीवद्रव्य ए दोऊ एक होय करि रंगभूमीमें प्रवेश करे हैं। तहां आदिविषैं मंगलका आशय लेकरि आचार्य ज्ञानकी महिमा करे हैं। जो सर्ववस्तुका जाननहारा यह ज्ञान है सो जीव अजीवके सर्वस्वांगनिको नीके पहिचाने है, ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रगट होय है, इस अर्थरूप काव्य कहे हैं—

**जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याय्य (य) यत्पार्षदानासंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्माराममनंतधाम सहसाध्यक्षेण नित्योदितं धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ।**

सं० टी०—ज्ञानं-शुद्धात्मबोधः, विलसति-विलासं कुरुते, तदित्याध्याहारः, यत् ज्ञानं विशुद्धं-निर्मलं, कुतः ? आसंसारे-त्यादिः-आसंसारं-पंचसंसारमभिव्याप्येत्यासंसारं निबद्धानि-बंधनं प्राप्तानि, तानि च तानि बंधनानि च प्रकृतिस्थित्यनुभाग-प्रदेशलक्षणानि, तेषां विधिः-विधानं तस्य ध्वंसः-विनाशः, तस्मात्, पुनः किंभूतं ? स्फुटत्-प्रादुर्भवत्, किंकृत्य ? प्रत्याय्य-प्रतीतिगोचरतां कृत्वा, कान् ? पार्षदान्-सभापतीन्, कया ? जीवेत्यादिः-जीवश्चाजीवश्च जीवाजीवौ तयोर्विवेकः-पृथक्करणं,

स एव पुष्कला विस्तीर्णा, दृक्-दृष्टिस्तया, किंभूतं ? आत्मारामं-आत्मा-चिद्रूपः, स एव आरामः-क्रीडायनं-निवासस्थानं, यस्य तत्, पुनः किंभूतं ? अनंतधाम-अनंतं-अंतातीतं धाम-तेजः, यस्य तत्, नित्योदितं-नित्यं-निरंतरं, उदितं-उदयमानं, केन अध्यक्षेण सकलकेवलालोकप्रत्यक्षेण, महसा-तेजसा, लोकातिक्रांतप्रकाशेन, धीरोदात्तं-धीरं निष्कंपं धैर्यादिगुणयुक्तत्वात् तथ तदुदात्तं च-उत्कटं, धीरोदात्तं, अनाकुलं-आकुलतारहितं, मनः-मव्यचित्तं, ह्लादयत्-हर्षोद्रेकं कुर्वत् ॥ ३३ ॥ अथ परविवेकेनोत्साहयति

अर्थ–ज्ञान है सो मनकूं आनंदरूप करता संता प्रगट होय है । कैसा है ? 'पार्षद, कहिये जीवाजीवके स्वांगकूं देखनेवाले महंत पुरुष तिनिकूं, जीव अजीवका भेद देखनेवाली जो बडी उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि, ताकरि भिन्नद्रव्यकी प्रतीति उपजावता संता है । बहुरि अनादिसंसारतें दृढ बंध्या है बंधन जाका ऐसा जो ज्ञानावरण आदि कर्म, ताके नाशतें विशुद्ध भया है, स्फुट भया है । जैसें फूलकी कली फूले तैसें विकाशरूप है । बहुरि कैसा है ? आत्मा ही है आराम कहिये रमनेका क्रीडावन जाके, अनंतज्ञानका आकार आनि झलके है, तौऊ आप अपने स्वरूपहीमें रमे है बहुरि अनंत है धाम कहिये प्रताप जाका । बहुरि प्रत्यक्ष तेजकरि नित्य उदयरूप है । बहुरि कैसा है ? धीर है, उदात्त कहिये उत्कट है, याहीतें अनाकुल है सर्ववांछातें रहित निराकुल है । इहां धीर उदात्त अनाकुल विशेषण है, सो ए शांतरूप नृत्यके आभूषण जानने, ऐसा ज्ञान विलास करे है ॥ भावार्थ–यह ज्ञानकी महिमा करी, सो जीव अजीव एक होय रंगभूमीमें प्रवेश करे हैं तिनिकूं यह ज्ञान ही भिन्न जाने है। जैसें कोई नृत्यमें स्वांग आवे ताकूं यथार्थ जाने ताकूं स्वांग करनेवाला नमस्कार करि, अपना रूप जैसाका तैसा करी ले, तैसें इहां भी जानना ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषनिके होय है मिथ्यादृष्टि भेद जाने नाही ॥ ३३ ॥

अब इहां पुद्गलतें भिन्न जो आत्माकी उपलब्धि, ताप्रति विप्रतिपन्न कहिये अन्यथा ग्रहण करनेवाला . पुद्गलहीकूं आत्मा जानता जो, पुरुष, ताकूं साम कहिये ताके हितरूप मिलापकी वार्ता कहिकरि, समभावहीतें उपदेश कहना सोही काव्यमें कहे हैं–

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः ॥ ३४ ॥

सं० टी०–ननु शब्दोत्र-आमंत्रणे, विरम-विरक्तो भव संसारदुःखादेः, परादयचोप्यापराश, अपरेण-परकीयेन, अकार्यकोलाहलेन-कार्याद्न्योऽकार्यः,

कठिण भासै तौ ताका निषेध है, जो बहुतकाल समझतैं लागेगा, तौ छह महिना सिवाय न लागेगा । तातैं अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल छोडि यामैं लागै शीघ्र रूपकी प्राप्ति होयगी ऐसा उपदेश है ॥

विशेष-' अकार्यकोलाहलेन किं ' अर्थात् व्यर्थके कोलाहलमें क्या रक्खा है यहांपर संस्कृत टीकाकारने कोलाहल शब्दका इसप्रकार स्पष्टीकरण किया है-कोई मानते हैं कि-स्वाभाविक राग द्वेष कर्मोसे मालन अध्यवसान ही आत्मा है क्योंकि अंगारके समान जाज्वल्यमान इस अध्यवसान (ज्ञान) से अतिरिक्त कोई जीव पदार्थ अनुभवमें नहिं आता । १ । किन्हींका मत है-अनादि अनंत जो पूर्वापर अवयव [परमाणु पुंज] उनमें सदा संसरण रूप क्रियाका करनेवाला कर्म ही जीव पदार्थ है क्योंकि सिवाय कर्मके अन्य कोई भी जीव पदार्थ उपलब्ध नहिं होता ।२। किन्हींका सिद्धांत है कि जिसके तीव्र अनुभव और मंद अनुभव भेद हैं और जो परिणाममें दुःखदायी है ऐसे रागरससे परिपूर्ण अध्यवसानसंतान ही जीव है किंतु इससे भिन्न संसारमें कोई जीव पदार्थ नहीं क्योंकि यदि होता तो उपलब्ध होता ॥ ३ ॥ अनेक ऐसा मानते हैं-कभी नवीन कभी पुराना होनेवाला नोकर्म (शरीर) ही जीव है क्योंकि शरीरसे भिन्न कोई जीव पदार्थ नहिं प्रतीत होता ॥ ४ ॥ बहुतोंका मत है कि-समस्त लोकको पुण्यपापरूपसे व्याप्त करता हुआ कर्मविपाक (अनुभव) ही जीव है क्योंकि शुभ अशुभ भावसे अतिरिक्त कोई भी जीव पदार्थ नहीं ॥ ५ ॥ कोई २ यह मानते हैं कि-जिसके तीव्र और मंदगुण सात और असात रूपसे व्याप्त हैं अर्थात् सात असात स्वरूप हैं एवं इन गुणोंके भेदसे जिसका भेद है ऐसा कर्मोका अनुभव ही जीव पदार्थ है क्योंकि सुख दुःखसे भिन्न कोई भी जीव पदार्थ अनुभवमें नहिं आता ॥ ६ ॥ अनेकोंका यह मत है कि-परस्परमें एकमएक आत्मा और कर्म दोनों ही जीव हैं क्योंकि कर्मसे अतिरिक्त कोई भी पदार्थ अनुभवमें नहिं आता ॥ ७ ॥ तथा कोई २ यह मानते हैं कि अर्थक्रियासमर्थ कर्मसंयोग ही जीव है क्योंकि जिसप्रकार काष्ठके संयोगसे खाट कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं-काष्ठका समूह ही खाट है उसी प्रकार कर्मका संयोग ही आत्मा है कर्मसंयोगको छोडकर अन्य कोई भी आत्मा पदार्थ दृष्टिगोचर नहिं होता ॥ ८ ॥ इसप्रकारके आत्मस्वरूप विषयक व्यर्थ कोलाहलकी क्या आवश्यकता है कुछ समय अपने हृदयमें उसके स्वरूपका विचार करो जैसा आत्मा है वैसा तुम्हें अपने आप उपलब्ध हो ही जायगा और तब तुम भलेप्रकार उसके स्वरूपको जान जावोगे ॥ ३४ ॥

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं ।

इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात् कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतं ॥ ३५ ॥

[illegible] वा कलिरिह्वामर्षेनुरिति वचनात्, कः ? आत्मा-चिद्रूपः, कं ? इमं [illegible] आत्मनि स्वस्वरूपे, किंभूतं ? साक्षात्-प्रत्यक्षं, विश्वस्य-जगतः, उपरि [illegible] लोकालोकपरिच्छेदकं वा चरधातोर्गमनार्थवाचकत्वात्, परं-उत्कृष्टं, अ- [illegible] किंभूतं स्वं ? चिच्छक्तिमात्रं-ज्ञानशक्तिमात्रं-स्फुटतरं-अतिव्यक्तं, च- [illegible] समस्तमपि परद्रव्यं, नत्वेकदेशेनेत्यपिशब्दार्थः, किंभूतं तत् ? चिच्छक्तिरिक्तं-ज्ञानश- [illegible], 'मङ्गलाभिधेयंजसाल्हाय' इत्यमरः ॥३५॥ अथ चेतनाचेतने विभजति-

अर्थ— [illegible] सो अपने एक केवल आत्माकूं आतमाही विषें अभ्यास करो, अनुभव करो कैसा आत्माका अनुभव करो ? जो चिच्छक्तितैं रीतें रहित अन्यभाव हैं तिनिहू सर्वहीकूं मूलतैं छोडिकरि अर प्रगटपणे अपने चिच्छक्तिमात्र भावकूं अवगाहन करि अर यह समस्त पदार्थसमूह जो लोक ताके उपरि प्रवर्तता संता है, ताका साक्षात् अनुभव करो। कैसा है यह ? अनंत है, अविनाशी है ॥ भावार्थ—यह आत्मा परमार्थतैं समस्त अन्यभावनितैं रहित चैतन्यशक्तिमात्र है, ताका अनुभवका अभ्यास करो, ऐसा उपदेश है ॥ आगैं चिच्छक्तितैं अन्य जे भाव हैं, ते सर्व पुद्गलद्रव्यसंबंधी हैं ऐसा कहै हैं—

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥ ३६ ॥

सं० टी०—अयं जीवः-आत्मा, इयान्-एतावन्मात्रः, चिच्छक्तीत्यादि-चिच्छक्त्या-ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदेन, व्याप्तं सर्वस्वसारं सर्वांशः सामस्त्येन, सारं- अंतर्भागो यस्य सः, अमी प्रत्यक्षाः-शरीरादयः, सर्वेऽपि-समस्ता अपि, भावाः-पदार्थाः, पौद्गलिकाः पुद्गले भवाः पौद्गलिकाः, अतः एतस्मात् चैतन्यात्, अतिरिक्ताः-भिन्नाः-ज्ञानशून्या इत्यर्थः ॥३६॥ अथ वर्णादीनां विविक्तत्वं भण्यते-

अर्थ—यह जीव है सो चैतन्यशक्तिकरि व्याप्त है सर्वस्व सार जाका ऐसा एतावन्मात्र है, इस चिच्छक्तितैं रीते जे भाव हैं ते सर्वही पुद्गलजन्य हैं ते पुद्गलकेही हैं ॥

अंक १

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥ ३७ ॥

सं० टी०–अस्य-प्रत्यक्षस्य, पुंसः-आत्मनः, वर्णाद्या वा-वर्णगंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननानाद्यो वहिर्भावाः, वा-पुनः- रागमोहादयः-रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानादयः, सर्वे· समस्ताः, एव-निश्चयेन, भावाः-पदार्थाः, भिन्नाः-अतिरिक्ताः, आत्मातिरिक्ता इत्यर्थः, तेनैव वर्णादीनां भिन्नत्वकारणेनैव, तत्त्वतः-परमार्थतः, अंतः-अभ्यंतरे स्वस्वरूपे, पश्यतः-अवलोकयतः-स्वध्यानं कुर्वत-इति भावः, अमी-वर्णरागादयः, नो दृष्टाः-नावलोकिताः, स्युः-भवेयुः। अवलोकनेऽतः सति किं दृष्टं ? एकं-अद्वितीयं-परं-उत्कृष्टं-परमात्मानमित्यर्थः, दृष्टं-अवलोकितं, अंतःपश्यतः पुंसः स्यात्-भवेत् ॥ ३७ ॥
अथ पुद्गलेन निर्वृत्तस्य पौद्गलिकत्वं विपर्ति——

अर्थ–वर्णादिक अथवा रागमोहादिक सर्वही भाव कहे ते सर्वही या पुरुषके भिन्न हैं । तिसही कारणकरि अंतर्दृष्टिकरि देखतेकूं ए सर्वही नाहीं दीखे । केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप पुरुषही दीख्या । भावार्थ–परमार्थनय अभेदही है, तातैं तिसदृष्टिकरि देखतैं भेद नाहीं दीखे हैं, तिसनयकी दृष्टिमैं चैतन्यमात्रही पुरुष दीखै है । तातैं ते सर्वही वर्णादिक तथा रागादिक पुरुषके भिन्न ही हैं । अर इनि वर्णकूं आदि लेकरि गुणस्थानपर्यंत भाव हैं, तिनिका स्वरूप विशेषकरि जान्या चाहै, सो गोमठसार आदि ग्रंथनितैं जाणियो ॥

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्तदेव तत्स्यान्न कथं च नान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिं ॥ ३८ ॥

सं०टी०–अत्र-जगति, यत्-शरीरादि,किंचित्-किमपि, येन-पुद्गलादिना, निर्वर्त्यते-निष्पाद्यते,तत्-शरीरादि, तदेव-पौद्गलिकमेव, स्यात्-भवेत्, कथंचन-केनापि प्रकारेण संस्कारादिना अन्यत् पुद्गलातिरिक्तं न भवेत अथवा अन्यत्-आत्मादिद्रव्यं केनापि प्रकारेण पौद्गलिकं न हि- इममर्थं दृष्टांतयति–इह-जगति, रुक्मेण-कार्तस्वरेण निर्वृत्तं-निष्पन्नं, असिकोशं-कनकपत्रनिष्पन्नं खड्गपेटारकं, रुक्मं-सौवर्णं, पश्यंति अवलोकयंति सर्वे व्यवहारिणः, कथंचन-केनापि प्रकारेणाधाराधेयादिना, असिं-खड्गं न सौवर्णं पश्यंति ॥ ३८ ॥ अथ वर्णादीनां पौद्गलिकत्वं पूरयति——

[illegible] है, किछु अन्य वस्तु नाहीं है ॥ जैसै रूपेसोने-
[illegible] सोना ही देखे हैं, तिसकूं सदृश तौ कोई प्रकार भी नाही देखे है ॥
[illegible] पुद्गलही हैं, ते और नाहीं है ॥

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥ ३९ ॥

सं० टी० विदंतु जानंतु, [illegible] इत्याध्याहार्यं, इदं प्रत्यक्षं, वर्णादिसामग्र्यं वर्णादीनि-वर्णगंधरसस्पर्श शरीरसंस्थानसंहन-नादीनि तेषां सामग्र्यं समग्रस्य भावः सामग्र्यं, निर्माणं निष्पत्तिः, एकस्य धर्मादिपंचद्रव्यनिरपेक्षस्य, पुद्गलस्य-परमाणुद्र-व्यस्य, इति विदन्ति, तन्निष्पादितं ततः-तस्मात् कारणात्-वर्णादिनिर्माणस्य पुद्गलत्वसाधनात्, इदं तु-वर्णादि पुद्गल एव वर्णादिसामग्र्यतिनिष्पादितं यत् नात्मा-चिद्रूपो नहि। वर्णादि चिद्रूपः कुतो न? यतः-यस्माद्धेतोः, सः-आत्मा, विज्ञान-घन इति विज्ञानेन बोधेन, घनो-निबिडः, विज्ञानस्य घनो यत्र स तथोक्तः, ततः-वर्णादीनां विज्ञानाभावात्, अन्यः-वर्णादेर्भिन्न एव ॥ ३९ ॥ अथ जीवानां वर्णादिप्रतिपादनं मिथ्येति मथ्नाति—

अर्थ-अहो ज्ञानी जनहो, ए वर्णादिक गुणस्थानपर्यंत भाव हैं, ते समस्त ही एक पुद्गलकै रचे तुम जाणूं, तातैं ए पुद्गलही होहु, आत्मा मति होहु, जातैं आतमा तौ विज्ञानघन है, ज्ञानका पुंज है तातैं इनि वर्णादिकतैं अन्यही है ॥

घृतकुंभाभिधानेऽपि कुंभो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥ ४० ॥

सं० टी०—चेत् यदि, कुंभः-कलशः, घृतमयः, घृतेन-आज्येन, निर्वृत्तः घृतमयः, न भवेत्, घृतकुंभाभिधाने-घृतस्य कुंभ इ-त्यभिधानेऽपि न केवलं, अनभिधानेऽपि इत्यपिशब्दार्थः तर्हि जीवः-आत्मा, तन्मयः-वर्णादिमयो नहि, क सति? वर्णेत्यादिः-शुभं प्रति वर्णादिमानयं जीवः, इति सूत्रे लोकव्यवहारे च जल्पनेऽपि, यथैव हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुंभस्य तदन्यमृ-ण्मयकुंभानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुंभः स मृण्मयो न घृतमय इति तथा कुंभे घृतकुंभ इति व्यवहारः, तथाऽस्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो न वर्णादिमय इति त-त्प्रसिद्धत्वा जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः ॥ ४० ॥ ननु वर्णादीनां रागादीनां च जीवत्वाभावे को जीवः, इति वाचव्याने—

अर्थ—जो घृतका कुंभ है ऐसे कहतेमी, कुंभ है सो घृतमयी नाहीं है, मृत्तिकाहीका है। तो तैसें जीव है सो वर्णादिमान् है ऐसें कहतेमी, वर्णादिमान् नाहीं, ज्ञानघनही है ॥ भावार्थ—जो पहलेही घटकूं मृत्तिकाका जाण्या नाहीं अर घृतके भरे घटकूं लोक घृतका घट कहते सुणें, तहां यहही जाण्या जो घट घृतहीका कहिये है, ताकूं समझावनेकूं मृत्तिकाका घट जाननेवालाभी घृतका घट कह करि समझावे है ॥ तैसें ज्ञानस्वरूप आत्माकूं जानें जान्या नाहीं, अर वर्णादिकके संबंधरूपही जीवकूं जानें, ताके समझावनेकूं सूत्रमेंभी कह्या है-जो यह वर्णादिमान् है सो जीव है ऐसा व्यवहार है, निश्चयतें वर्णादिमान् पुद्गल है, जीव है नाहीं, जीव तौ ज्ञानघन है ऐसा जानना ॥

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटं।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ४१ ॥

सं० टी०—इदं-प्रत्यक्षं चैतन्यं चेतनत्वं स्वयं-स्वतः पुद्गलाद्यनपेक्षत्वेन, तु इति-निश्चितं, जीवः-आत्मा, चैतन्यमंतरेण अन्यस्यानुपलभ्यमानत्वात्, उच्चैः-सकलश्रेष्ठत्वात्, चकचकायते-चाकचक्यतया शोभते, किं भूतं ? अनादि-कदाचिदपि तस्योत्पत्तेरभावात्, अनंतं-अंतातिक्रांतं विनाशरहितत्वात् ? अनादिनिधनत्वे तर्हि कीदृक्षं ? अचलं विनाशरहितत्वात् तदस्तीति कथं ज्ञायते ? स्वसंवेद्यं-अहं सुखी, दुःख्यहमित्यादिरूपस्वसंवेद्यप्रत्यक्षं, स्फुटं-व्यक्तं, धर्मादिद्रव्याणामचेतनत्वेनास्फुटत्वात्। ॥ ४१ ॥ अथाजीवमेदं विकाश्य जीवतत्त्वमालंबते—

अर्थ—जीव है सो यह चैतन्य है, सो यह आपै आप अतिशयकरि चमत्काररूप प्रकाशमान है। कैसा है ? अनादि है, काहू कालविषें नवीन नाहीं उपजा है। बहुरि अनंत है, जाका काहूं कालविषें विनाश नाहीं है। बहुरि अचल है, चैतन्यपणातें अन्यरूप चलाचल कबहू न होय है। बहुरि स्वसंवेद्य है, आपहीकरि जान्या जाय है। बहुरि स्फुट कहिये प्रगट है, छिप्या नाहीं है ॥ आगें दूसरा लक्षणका अव्याप्ति अतिव्याप्ति दूषण दूरि करनेकूं काव्य कहे हैं—

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो नामूर्तत्वमपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यतां

सं० टी०—ततः तस्मात् कारणात्, जगत्-गच्छति-जानातीति जगत्, 'द्युतिगमोर्द्वे च' इति क्विप्। ज्ञानवत्प्राणिसमूहः,

[illegible] ततः [illegible], पश्यति अवलोकयति। नहि यद्यदमूर्तं तत्तज्जीव-
[illegible] । कुतः ? यतः कारणात् अजीवः-अजीवपदार्थः, द्वेधा-द्विप्रकारः, अस्ति-वर्तते।
[illegible] पुद्गलः, परमाण्वादिपुद्गलपिंडानां वर्णात्मकत्वेन मूर्तत्वात्, तथा-तेनैव प्रकारेण,
[illegible] धर्माधर्माकाशकालानां वर्णादिरहितत्वेनामूर्तत्वात्, इति-अमुना प्रकारेण, अमूर्तत्वं जीवस्वरूपं न
[illegible] स्वरूपं, व्यंजितजीवतत्त्वं व्यंजितं जीवस्य स्वरूपं येन तत्, अचलं-परलक्ष्ये-
[illegible] प्रकारेण तथोचितं युक्तं । लक्षणस्य त्रीणि दूषणानि-अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवरूपाणि
[illegible] विद्यमानत्वात्। गोः शावलेयत्ववदव्यापि नच। वा-पुनः-अतिव्यापि न च स्वलक्ष्यं
[illegible] गोः पशुत्ववद्विद्यमानत्वाभावात्। पुनः-गव्येकशफत्ववदसंभवं न च यतः, व्यक्तं-तत्रैव तत्र सर्वत्रैव
[illegible] । [illegible] स्वसंभवपरिहारः ॥ ४२ ॥ अथ जीवाजीवयोर्भिन्नत्वमनुभवति—

[illegible] जो जीवका लक्षण अमूर्तिकपणा कहिये, तो अजीवपदार्थ दोयप्रकार है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ए तौ वर्णादिकभावरहित हैं, अर पुद्गल है सो वर्णादिसहित है। तातैं अमूर्तिकपणाकूं ग्रहणकरि लोक जीवका यथार्थ-स्वरूपकूं नाहीं देखे, यामें अतिव्याप्तिदूषण आवै॥ बहुरि वर्णादिकमें रागादिकभी आगये, ते रागादिक जीवका लक्षण कहिये, सो तिनिकी व्याप्ति पुद्गलहीतैं है, जीवकी सर्व अवस्थामें व्याप्ति नाहीं। तातैं अव्याप्तिदूषण आवै॥ ऐसैं भेद-ज्ञानीपुरुष आलोचना करि परीक्षा करि अतिव्याप्ति अव्याप्तिदूषणतैं रहित चेतनपणा लक्षण कह्या है, सो भलैप्रकार योग्य है। प्रगट जीवका यथार्थ स्वरूप जानैं व्यक्त कीया है। बहुरि कैसा है? जीवतैं कबहू चलाचल नाहीं है, सदा विद्यमान रहै है। सो जगत इसही लक्षणकूं अवलंबो, याहीतैं यथार्थ जीवका ग्रहण होय है॥ आगैं, जो ऐसा लक्षणकरि जीव प्रगट है, तौऊ अज्ञानीलोककै याका अज्ञान कैसा रहे है? ताका आचार्य आश्चर्य तथा खेदसहित वचन कहे हैं--

विशेष—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति असंभवके भेदसे लक्षणमें तीन दोष आते हैं जीवका लक्षण वर्ण आदिवाला वा अमूर्तत्व मानने मे ये अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोष आकर उपस्थित हो जाते हैं किंतु चैतन्य लक्षण माननेमें कोई दोष आकर उपस्थित नहिं होता। लक्ष्यके एकदेशमें लक्षणका रहजाना अव्याप्ति दोष है जिसप्रकार गौका लक्षण शावलेयत्व [चितकवरा पना] अर्थात् [illegible] कोई कोई गायोंमेंही रहता है, लक्ष्यभूत समस्त गायोंमें नहीं। जो लक्षण अपने लक्ष्यमें और लक्ष्यको छोड-

कर अलक्ष्यमें भी रहै वह लक्षण अतिव्याप्त है जैसे गौका लक्षण पशुपना, अर्थात् यह पशुत्व लक्षण समस्त गायोंमें भी रहता है और गायोंके सिवाय भैंस बकरी आदिमें भी पाया जाता है-वे भी पशुके नामसे पुकारे जाते हैं। जो लक्षण लक्ष्यमें सर्वथा असंभव हो वह असंभव है जैसे गौका लक्षण एकशफत्व-एक खुरवाली अर्थात् एक शफत्व-किसी गौमें देखनेमें नहिं आता। यहांपर जीवका चैतन्य लक्षण स्वीकार करनेपर कोई भी दोष नहीं क्योंकि यह चेतनत्व समस्त जीवोंमें रहता है इसलिये तो इसमें अव्याप्ति दोष नहिं आता। सिवाय जीवके अन्यपदार्थ धर्म आकाश आदि में नहिं रहता इसलिये अतिव्याप्ति एवं जीवमें इसका असंभव पना नहीं इसलिये असंभव दोष भी नहिं आता। यद्यपि ग्रंथकारने मूलमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोही दोषोंका उल्लेख किया है एवं क्रमसे उनके वर्णादिमत्व और अमूर्तत्व ये दो उदाहरण भी दिये हैं अर्थात् यदि जीवका लक्षण वर्णादिमत्व माना जायगा तो अव्याप्ति और अमूर्तत्व माना जायगा तो अतिव्याप्ति दोष आवेगा, तथापि सहचरित न्यायसे अर्थात्-अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव तीनों ही लक्षणके दोष समान हैं-असंभव दोष भी सहचारी है इस न्यायसे असंभव दोष भी जान लेना चाहिये और अव्याप्ति आदिके समान जीवके चेतनत्व लक्षणमें इसका भी परिहार समझना चाहिये। संस्कृत टीकाकारने यहां व्यक्तपदसे वा समुचित शब्दसे भी असंभवका परिहार किया है व्यक्तं अर्थात् चैतन्य लक्षण जीवमें स्पष्ट रूपसे जान पडता है इसका जीवमें असंभव नहीं ४२

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतं।
अज्ञानिनो निरवधि प्रविजृंभितोऽयं मोहस्तु तत्कथमहो वत नानटीति॥ ४३॥

सं० टी०—इति-चेतनत्वाचेतनत्वयोर्भिन्नत्वकथनेन, अनुभवति-निश्चिनोति, अनुभवविषयं करोतीत्यर्थः, कः? ज्ञानी-भेदविज्ञानयुक्तः, जनः-भव्यलोकः, लक्षणतः-असाधारणधर्मतः, जीवात्-आत्मनः, अजीवं-धर्मादिद्रव्यं, विभिन्नं-अतिरिक्तं, कीदृशं अजीवं? स्वयं-अचैतन्यस्वरूपेण, उल्लसंतं-ऊर्ध्वं विलसंतं, वत इति-खेदे, तत्-तस्मात्, जीवाजीवयोः, परस्परं भिन्नत्वात् अयं मोहः-पुद्गलात्मकं मोहनीयं रागद्वेषात्मकं च कर्म, अहो इति आश्चर्ये, कथं? केनप्रकारेण? नानटीति-अत्यर्थं नाटयति न कथमपि, तयोः परस्परभिन्नत्वसाधनात्, किंभूतो मोहः? अज्ञानिनः-भेदज्ञानरहितस्य मूढप्राणिनः, निरेत्यादिः-मर्यादारहितत्वेन व्याप्तः, अज्ञानिनस्तन्मयत्वात्॥ ४३॥ अथाविवेकनाट्ये नटनपटुतां प्रकटयति—

अर्थ—ऐसें पूर्वोक्तलक्षणतैं जीवतैं अजीव भिन्न है, सो ज्ञानीजन है, सो याकूं आपैआप प्रगट उपडता अनुभ-

[illegible] मोह अज्ञानीजनके यह अमर्यादरूप मोह महान प्रगट फैलता संता कैसे अतिशयकरि नृत्य करे है ! [illegible] बडा आश्चर्य है तथा खेद है ॥ ऐसी भाषा प्रतिभास करे है जो, मोह नृत्य करे है तौ, करो, तथापि ऐसे हैं—

[illegible] अपने चैतन्यस्वरूपसे उल्लासमान लक्षणसे जीवद्रव्यसे भिन्न अजीव द्रव्यका भेद [illegible] यह मोह अज्ञानीके नृत्य करता है-अज्ञानीको चक्रमें डालता है यह बडा [illegible] है । [illegible] भेदज्ञानी अपने चैतन्यस्वरूपसे उल्लसित, लक्षणसे जीवद्रव्यसे भिन्न [illegible] जीव और अजीवमें परस्पर भेद होनेकेकारण मोह, जो अज्ञानी जीवके अमर्यादरूप- [illegible] कभी भी ज्ञानीको मोह अपने चक्रमें नहिं डाल सकता यह अर्थ [illegible] भेदज्ञानी अपने चैतन्यस्वरूपसे उल्लासमान दोनोंका भिन्न २ लक्षण होनेसे जीवसे सर्वथा [illegible] अनुभव करता है तथापि अज्ञानीके बुद्धिको प्राप्त यह मोह इसे भी अपने चक्रमें घुमादेता है यह महान खेद और [illegible] है इसका भाव यह होना चाहिये ॥ ४३ ॥

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥ ४४ ॥

[illegible] नटति नृत्यं करोति, नारकादिपर्यायसूक्ष्मस्थूलादिरूपं भवतीत्यर्थः, कः ? पुद्गलः, वर्गवर्गणास्पर्धकगुणहा- [illegible] एव निश्चयेन, किंभूतः ? वर्णादिमान्, वर्णो-रूपं, स एव आदिर्यस्य स्पर्शरसगंधादेः, स वर्णादिः विद्यते यस्य सः '[illegible] पुद्गलाः' इति वचनात्। क ? अस्मिन्-जगत्प्रसिद्धे, अविवेकनाट्ये 'ममेदं' अहमस्येति लक्षणोऽविवेकः, तथा- [illegible] 'चिदचितोः पृथक्त्वे विवेकस्तद्विपरीतमिति' तद्विपरीतोविवेकः, स एव नाट्यं-लास्यं, तस्मिन्, किंभूते ? अनादिनि-आ [illegible] पुनः किंभूते ? महति-आसंसारजीवव्याप्तत्वात्, चेति भिन्नप्रक्रमे, अन्यः-अजीवाद्भिन्नः, अयं जीवः-आत्मा, न नट- ति, कुतः ? हेतुगर्भितविशेषणं दर्शयति-रागेत्यादिः-रागो-रतिः, आदिशब्दात् द्वेषमोहाध्यवसायादयः ते च ते पुद्गलानां विका- [illegible] तेभ्यो विरुद्धं-विपरीतस्वरूपत्वाद्भिन्नं तच्च तत् शुद्धं-द्रव्यभावनोकर्मरहितं चैतन्यं च तदेव धातुः-द्रव्यविशेषः, [illegible] धातुः-शक्तिः, तेन निर्वृत्ता मूर्तिर्लक्षणया स्वरूपं यस्य सः । अथोपसंहारमाजेहीयते—

अर्थ–यह अनादिकालका बडा अविवेकका नृत्य है तिसविषैं वर्णादिमान् पुद्गलही नृत्य करे है, अन्य कोई नाहीं है। अभेदज्ञानमैं पुद्गलही अनेकप्रकार दीखे है, किछु जीव तौ अनेकप्रकार है नाहीं। यह जीव है सो तौ रागादिक जे पुद्गलतैं भये विकार तिनितैं विरुद्ध विलक्षण शुद्ध चैतन्य धातुमयी मूर्ति है॥ भावार्थ–रागादि चिद्विकारकूं देखि ऐसा भ्रम न करना, जो, ए भी चैतन्य ही है, जातैं चैतन्यकी सर्व अवस्थामैं व्यापै, तौ चैतन्यके कहिये। सो ऐसैं है नाहीं, मोक्ष अवस्थामैं इनिका अभाव है॥ तथा इनिका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है॥ चैतन्यका अनुभव निराकुल है, सोही जीवका स्वभाव है ऐसैं जानना॥ आगै भेदज्ञानकी प्रवृत्तिपूर्वक यह ज्ञातादृव्य आप प्रगट होय है, ऐसैं महिमा करि अधिकार पूरण करे हैं, ताका कलशरूप काव्य कहे हैं–

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद् व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या ज्ञातृ द्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे।

सं० टी०-तावत्-तावत्कालपर्यंतं, ज्ञातृद्रव्यं-ज्ञायकद्रव्यं, आत्मद्रव्यमित्यर्थः, स्वयं-स्वभावादेव, अतिरसात्-रसातिशयतः, उच्चैः-ऊर्ध्वं, चकाशे-शुशुभे, किंभूतं? प्रसभविकसत्-अत्यर्थं विकासं गच्छत्, कया? व्यक्तेत्यादि-चिन्मात्रस्य ज्ञानमात्रस्य, शक्तिः-अविभागप्रतिच्छेदसमूहः, व्यक्ता चासौ चिन्मात्रशक्तिश्च तया, किं कृत्वा विश्वं-जगत्,व्याप्य-परिच्छेद्येत्यर्थः, यावत् यावत्पर्यंतं नैव प्रयातः-निश्चयेन न प्राप्नुतः, किं? स्फुटविघटनं-स्फुटं व्यक्तं-विघटनं-पृथग्भवनं, कौ? जीवजीवौ-जीवः-आत्मा-चेतनः,अजीवः-अचेतनः-कर्मपुद्गलादिः, द्वंद्वः, तौ, किं-कृत्वा? इत्थं पूर्वप्रकारेण, पुद्गलस्यैव नर्तनादिरूपगलक्षणेन, नाटयित्वा-नृत्यविषयं कृत्वा, इतस्ततश्चालयित्वेति यावत्, किं? ज्ञानेत्यादि-ज्ञानं शुद्धात्मज्ञानं, तदेव क्रकचः-करपत्रं 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रं स्यात्, इत्यमरः'तस्य कलना-ग्रहणं, तस्याः पाटनं-पटुत्वं तत्पटुत्वं जीवाजीवयोर्मध्ये कृत्वेत्यर्थः। तावत् ज्ञातृद्रव्यं समयं समयं प्रति अधिकतया अचकात्, यावद्भिद्दोपपंचध्वंसो न याति तस्मिन्क्षणे अधिकतया प्रतिभासनाभावात्तस्य स्वस्वरूपेऽवस्थानात् कृतकृत्यत्वादिति तात्पर्यं।

व्याख्यानमिदं जयतादात्मविकाशिप्रकृष्टनिजमानं। शुभचंद्रयतिव्यक्तं शुद्धार्थं समयसारपद्यस्य।

इति समयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरंगिणीनामधेयस्य व्याख्यायां प्रथमोंकः॥ १ ॥

अर्थ–याप्रकार ज्ञानरूप करोतकी कलनाका पाटन कहिये वारंवार अभ्यास करना, ताहि नचायकरि जीव अर

अनादि दोऊ एकरूपसे जैसे न्यारे न भये, जैसें यह ज्ञातृद्रव्य आत्मा है सो समस्त पदार्थनिविषैं व्याप्यकरि अर प्रगट विकासरूप प्रगट होती जो चिन्मात्रशक्ति ताकरि आप आप अतिवेगतैं अतिशयकरि प्रगट होता भया ॥ भावार्थ– जीव पुद्गल दोऊ अनादितैं संयोगरूप हैं। सो अज्ञानतैं एकसे दीखे हैं। तहां भेदज्ञानके अभ्यासकरि जेते प्रगट न्यारे न भये, जीव कर्मनितैं छूटि मोक्ष प्राप्त न भया, जैतैं यह जीव ज्ञाता द्रव्य है, सो अपनी ज्ञानशक्तिकरि समस्त वस्तुकूं अतिशयकरि अतिवेगतैं आप प्रगट भया ॥ इहां तात्पर्य यह, जो सम्यग्दृष्टि भये पीछैं जेतैं केवलज्ञान न उपजे है, तैतैं भी परोक्षके आगमतैं भया श्रुतज्ञान ताकरि, समस्त वस्तुका संक्षेप तथा विस्तारकरि परोक्षज्ञान होय है, तिस ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव होय है, सोही याका प्रगट होना है ॥ बहुरि जब घातिकर्मका नाशतैं केवलज्ञान उपजे है, तब समस्तवस्तूनिकूं साक्षात् प्रत्यक्ष जाने है, ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्माकूं साक्षात् अनुभवे है, सोही याका प्रगट होना है ॥ ऐसें मोक्ष भये पहलेही आत्मा प्रकाशमान होयहै, यह भी जीव अजीवका न्यारा होनेका प्रकार है ॥ ऐसैं जीव अजीवका पहला अधिकार पूर्ण भया ॥

तहां टीकाकार पहलैं रंगभूमिका स्थल न्यारा कहि पीछे कही थी, जो, नृत्यके अखाडेमें जीव अजीव दोऊ एक भेष करे हैं, दोऊ एकपणाका स्वांग रचा है। तहां भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टिपुरुष अपने सम्यग्ज्ञानतैं दोऊकूं लक्षणभेदतैं परीक्षाकरि दोय जानि लिये, तब स्वांग होय चुक्या, दोऊ न्यारे न्यारे होय अखाडामैंसूं बाहिर भये, ऐसा अलंकार करि वर्णन कीया ॥

इसप्रकार स्वर्गीय पं० जयचंद्रजीकृत परमाध्यात्मतरंगिणीकी भाषा वचनिकामें पहिला अंक समाप्त हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽङ्कः ॥ २ ॥

कर्ताकर्मविभावकूं। मेटि ज्ञानमय होय ॥ कर्म नाशि शिवमें वसे। तिन्हैं नमूं मद खोय ॥ १ ॥

अब टीकाकारके वचन हैं–जो, जीव अजीव दोऊ एक कर्ता कर्मका वेष करि प्रवेश करे हैं ॥ जैसें दोय पुरुष आपसमें मिलि एक स्वांग करि, नृत्यके अखाडामैं प्रवेश करैं, तैसैं इहां अलंकार जानना ॥ तहां प्रथमही तिस स्वांगकूं ज्ञान है सो यथार्थ जाने है, ताकी महिमा कलशा रूप काव्य कहे हैं–

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिं।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वं॥१॥

सं० टी०—स्फुरति द्योतते, किं ? ज्ञानज्योतिः-बोधतेजः, पृथक्-समस्तद्रव्येभ्यो भिन्नं, किंभूतं ? परमोदात्तं-परमं-उत्कृष्टं, सर्वद्रव्यविकाशकत्वात् अथवा परा-उत्कृष्टा, मा लक्ष्मीः, अनंतचतुष्टयलक्षणा यस्य तत्परमं, तच्च तदुदात्तं- उत्कटं च तत्, पुनः अत्यंतधीरं-अतिशयेन धीरं-निष्कंपं, धीर्धारणा तां जगद्ग्रहणाय राति-आदत्ते इति धीरमिति वा, निरुपधि बाह्याभ्यंतरद्रव्यभावकर्मण उपाधेर्निष्क्रांतं निरुपधि, ' निरादयो निर्गमनाद्यर्थे पंचम्याः, इति पंचमीतत्पुरुषः, नत्वव्ययीभावः, द्रव्यनिर्भासि-समस्तगुणपर्यायनयोपनयप्रकाशकं नयोपनयमंतरेणान्यस्य द्रव्यस्याभावात् तथा चोक्तमष्टसहस्त्र्यां—

नयोपनयैकांतानां त्रिकालानां समुच्चयः । अविभ्राड् भावसंबंधो द्रव्यमेकमनेकधा ॥

विश्वं—षड्द्रव्यसमुदायसप्तरज्जुघनत्रिलोकं, उपलक्षणादलोकं च साक्षात्कुर्वत्-प्रत्यक्षीकुर्वत् इति पूर्वोक्तप्रकारेण प्रवृत्ति-कर्मकर्तृप्रवृत्तिं, तदत्र क्रोधादौ योयमात्मा स्वयमज्ञानभावेन ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्ता, यत्तु अज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेनांतरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म, एवमियमनादिरज्ञानजा कर्मकर्तृप्रवृत्तिः, कर्ता-आत्मा, कर्म-ज्ञानावरणादिः, द्वंद्वः, तयोः प्रवृत्तिः-प्रवर्तनं, तां, अभितः साकल्येन शमयत् उपशमं-शांततां नयत् किं भूतां तां ? अज्ञानां-न विद्यते ज्ञानं यस्यां सा तां,इति किं ? इह-जगति, एकः, अहं चित् आत्मा, 'चिच्छब्दोऽत्र पुल्लिंगे, कर्ता-करोतीत्येवं शीलः कर्ता, कोपादयः, क्रोधादयो द्रव्यभावरूपाः, मे-ममात्मनः, कर्तृतापन्नस्य, कर्म-क्रियमाणं कार्यं, ॥१॥ ननु ज्ञाने कथं न कर्तृकर्मप्रवृत्तिरिति चेत्—

अर्थ—ज्ञानज्योति है सो प्रगट स्फुरायमान होहै। कहा करता संता ? अज्ञानी जीवनिकै ऐसी कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है, जो इस लोकविषैं मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं सो तौ एक कर्ता हूं, बहुरि ए क्रोधादि भाव हैं ते मेरे कर्म हैं, सो ऐसा कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिकूं साक्षात् यह ज्ञान शमन करता संता है मेटता है ॥ कैसा है ज्ञानज्योति ? उत्कृष्ट, उदात्त है, काहूकै आधीन नाहीं है ॥ बहुरि कैसा है ? अत्यंत धीर है, काहू प्रकारकरि आकुलतारूप नाहीं है ॥ बहुरि कैसा है ? विना परके सहाय न्यारे न्यारे द्रव्यनिकूं प्रतिभासनेका जाका स्वभाव है, याही तैं समस्तलोकालोककूं साक्षात् प्रत्यक्ष करता है जानता है ॥ भावार्थ—ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है सो परद्रव्यका अर परभावनिका कर्ताकर्मपणाका अज्ञानकूं दूरि करि आप प्रगट प्रकाशमान होय है ॥

[illegible] 'कर्तृकर्मप्रवृत्ति' का विशेषण कर जिसमें ज्ञान न हो-ज्ञानशून्य अर्थ किया है और [illegible] अर्थ किया है।

परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादानिदमुदितमखंडं ज्ञानमुच्चंडमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्तेरिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबंधः ॥ २ ॥

[illegible] भाते बोधः, उच्चैः अतिशयेन, उदितं-उदयं प्राप्तं, किंभूतं ? उज्झत्-त्यजत्, परेत्यादि-परेषु क्रोधा[illegible] पुनः कीदृशं ? खंडयत्-निराकुर्वत्, कान् ? भेदवादान्-भेदानां कर्तृकर्मकरणादिरूपाणां, वादाः-कथना[illegible] अखंडं न [illegible] केनापि [illegible], परिपूर्णं, उच्चंडं-उत्कटं, द्रव्यास्रवनिराकरणहेतुत्वात् नन्विति वितर्के, इह ज्ञा[illegible], कथं ? न केनापि प्रकारेण, कस्याः ? कर्त्रेत्यादिः-कर्ता च कर्म च कर्तृकर्मणी तयोः प्रवृत्तिः-प्रवर्तनं, [illegible] कर्ता [illegible] कर्म [illegible], तस्याः भावकर्मणां नावकाश इति यावत्, वा-अथवा भवति-जायते, प्रादुर्भा[illegible]. कथं ? न केनापि प्रकारेण, पौद्गलः-पुद्गलेभ्यः-त्रयोविंशतिवर्गणानामन्यतमाभ्यो वर्गणाभ्यस्तदुचि[illegible] पौद्गलः, कर्मबंधः कर्मणां ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणां बंधः ॥ २ ॥ द्रव्यकर्मबंधो निरस्तः, अथ चेतनश्चकास्ती[illegible] प्रकाशते——

अर्थ—यह ज्ञान है सो प्रत्यक्ष उदयकूं प्राप्त भया। कैसा भया? अखंड कहिये जामैं ज्ञेयके निमित्ततैं तथा क्षयोपशमके विशेषतैं अनेक भेदरूप आकार प्रतिभासमें आवें थे तिनितैं रहित ज्ञानमात्र आकार अनुभवमैं आया, याहीतैं ऐसा विशेषण है। कैसा है ज्ञान? "भेदवादान् खंडयत्" कहिये मतिज्ञानादि अनेक भेद कहावें थे, सो तिनिकूं दूरि करता संता उदय भया, याहीतैं "अखंड" विशेषण है। बहुरि कैसा है? परके निमित्ततैं रागादिरूप परिणमै था तिस परिणतिकूं छोडता संता उदय भया, बहुरि कैसा है? 'उच्चैः उच्चंड' कहिये अतिशयकरि प्रचंड है, परका निमित्ततैं रागादिरूप नाहीं परिणमै है, बलवान् है॥ तहां आचार्य कहे हैं-जो, अहो, ऐसा ज्ञानमैं परद्रव्यके कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अवकाश कैसैं होय! तथा पौद्गलिककर्मबन्ध कैसा होय? नाहीं होय। भावार्थ—कर्मबंध तौ अज्ञानतैं भई कर्ताकर्मकी प्रवृत्तितैं था। अब भेदवादकूं दूरि करि अर पर परणति कूं दूर करि एकाकार ज्ञान प्रगट भया। तब भेदरूप कारककी प्रवृत्ति मिटी, तब काहेकूं बन्ध होय? नाहीं होय।

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परं।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनाक्लेशान्निवृत्तःस्वयं ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतःसाक्षी पुराणःपुमान्

सं॰ टी॰-इतः-ज्ञानस्य माहात्म्यकथनादनंतरं, चकास्ति-द्योतते, कः? पुराणः-जीर्णः-अनादिरित्यर्थः पुमान्-आत्मा, किंभूतः? जगतः-त्रिलोकस्य, साक्षी-अक्षति-संघातीकरोति पूर्वापरपर्यायानित्येवं शीलः अक्षी, अथवा अश्नोति-व्याप्नोति-परिछिनत्ति, सर्वगुणपर्यायानित्येवंशीलः अक्षी-ज्ञायकः तेन सह वर्तत इति साक्षी, अथवा जगतः साक्षी साक्षिकः-जगत्स्वभावज्ञायकत्वात्, स्वयं परस्वरूपमंतरेण, ज्ञानीभूतः संसारदशायामज्ञानं प्रतिबुद्धावस्थायां ज्ञानं भूयते स्मेति ज्ञानीभूतः, निवृत्तः-विनिवृत्तिं प्राप्तः, कुतः? अज्ञेत्यादिः-अज्ञाना-स्वयं चैतन्याभावलक्षणा, उत्थिता प्रादुर्भूता, कर्तृकर्मणोः कलना प्रवृत्तिर्विकल्पो वा सैव क्लेशः, दुःखदायित्वात् तस्मात्, पुनः किंभूतः? आस्तिघ्नुवानः-ष्टिवु आस्कंदने अस्य धातोः प्रयोगात्, परं-केवलं, स्वं-स्वरूपं, कुतः? अभयात्-निर्भयत्वमाश्रित्य, किं भूतं स्वं? विज्ञानेत्यादिः-विज्ञानस्य विशिष्टनिर्मलज्ञानस्य घनो-निरंतरं स एव स्वभावो यस्य तत्, इति हेतोःआत्मप्रकाशनस्वभावात्, एवं-पूर्वोक्तप्रकारेण, कर्तृकर्मावकाशनाने सति, विरचय्य-रचयित्वा, कां ? परां-उत्कृष्टां निवृत्तिं-परावृत्तिं, संप्रति-इदानीं, कुतः-परद्रव्यात्-पुद्गलादिपरद्रव्यत्वात् ॥ ३ ॥ अथात्मनः कर्तृत्वशून्यत्वं संसूचयति—

अर्थ– इहतैं आगैं पुराणपुरुष जो आत्मा सो जगतका साक्षीभूत, ज्ञाता, द्रष्टा आपही ज्ञानी भया संता प्रकाशमान होय है। सो पूर्वै कहाकरि कैसा भया संता सो कहे हैं।, ऐसैं पहलै कह्या तिस विधानकरि, परद्रव्यतैं उत्कृष्ट सर्वप्रकार निवृत्ति करि, अर विज्ञानघनस्वभावरूप जो केवल अपना आत्मा, ताही निःशंक आस्तिक्यभावरूप स्थिरीभूत करता संता, अज्ञानतैं भई थी जो कर्ता कर्मकी प्रवृत्ति, ताका अभ्यासतैं भया था जो क्लेश, तिसतैं निवृत्त भया संता प्रकाशमान होय है॥

विशेष–संस्कृत टीकाकारने 'अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनाक्लेशात्' यहांपर अज्ञानस्वरूप उत्पन्न हुई जो कर्ता कर्मकी प्रवृत्ति या विकल्प उससे उत्पन्न हुये क्लेशसे–यह अर्थ किया है और पं॰ जयचंद्रजीने अज्ञानसे उत्पन्न जो कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति उससे उदित क्लेशसे, यह अर्थ किया है। संस्कृत टीकाकारने यह चमत्कारी बतलाई है कि कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति ही अज्ञान स्वरूप है अज्ञानको कारण और प्रवृत्तिको कार्य क्यों मानना?

सो तौ व्यापक, अर जे अवस्थाके विशेष ते व्याप्य। ऐसैं होतैं द्रव्य तौ व्यापक हैं, अर पर्याय व्याप्य हैं। सो द्रव्य-पर्याय अभेदरूपही हैं॥ जो द्रव्यका आत्मा सोही पर्यायका आत्मा, सो ऐसा व्याप्यव्यापकभाव तत्स्वरूपविषैंही होय, अतत्स्वरूपविषैं नाहीं होय॥ तहां ऐसा सिद्ध होय है जो व्याप्यव्यापकभावविना कर्ताकर्मभाव न होय ऐसैं जो जानै सो पुद्गलकै अर आत्माकै कर्ताकर्मभाव नाहीं जानै, तब ज्ञानी होय, कर्ताकर्मभावकरि रहित होय, ज्ञाता, द्रष्टा, जगतका साक्षीभूत होय है॥

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमंतः कलयतुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः॥ ५॥

सं० टी०—ज्ञानी-आत्मा, च-पुनः, पुद्गलः-परमाण्वादिपुद्गलद्रव्यं व्याप्यव्यापकत्वं 'प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं' तत्र-प्राप्यं-कर्मपर्यायं प्राप्तुं योग्यं, यथा स्वभाविनि वह्नावुष्णत्वं, पूर्वावस्थापरित्यागेन चावस्थांतरप्राप्तिः तद्विकार्यं-यथा मृत्पिंडस्य घटः, पर्यायस्वरूपेण निर्वर्तितुं-निष्पादितुं, योग्यं निर्वर्त्यं, मृदः स्थासकोशकुशूलघटादिवत्, व्यापकत्वं-उष्णत्वे वह्नित्वं, घटे मृत्पिंडत्वं, स्थासादौ मृत्त्वं, पुद्गलकर्मपरिणामयोः, आत्मज्ञानपरिणामयोर्व्याप्यव्यापकत्वं, नत्वात्मकर्मणोः, अत्यंतं विलक्षणत्वात्-अंतः अभ्यंतरे वह्निस्तयोर्व्याप्यव्यापकत्वे दृश्यमानेऽपि कलयितुं-स्वीकर्तुं, असहौ-असमर्थौ, अत्यंतविलक्षणत्वमुद्घाटयति तयोः, किंभूतः सन्नात्मा? जानन्नपि-परिछिंदन्नपि, अपिशब्दात् लब्ध्यपर्याप्तादौ साकल्येनाजानन्, कां? इमां-प्रत्यक्षां, स्वपरपरिणतिं-स्वपरयोः—आत्मपुद्गलयोः परिणतिः—परिणामः-पर्यायः, ज्ञानकर्मलक्षणस्तां, पुनः पुद्गलस्तां, अजानन् अपरिच्छिदन् अज्ञानस्वभावत्वात्, असहौ, कुतः? नित्यं-सदैव, अत्यंतभेदात्-चेतनाचेतनस्वभावेनात्यंतं विलक्षणत्वात्, यावत् विज्ञानार्चिः-ज्ञानज्योतिः, न चकास्ति-न द्योतते, किं कृत्वा? सद्यः-तत्कालं, उत्पाद्य-निष्पाद्य, कं? भेदं, आत्मकर्मणोर्भिन्नत्वं, कथं? अदयं-ध्यानादिना निष्ठुरत्वं यथा भवति तथा, क इव? क्रकचवत्-यथा क्रकचः- करपत्रं काष्ठयोर्भेदमुत्पादयति, तावत्कालं, भाति-शोभते, का? कर्त्रेत्यादिः-कर्तृकर्मणोर्भ्रमस्तेनोपलक्षिता मतिः-बुद्धिः, कयोः? अनयोः-जीवपुद्गलयोः, कुतः? अज्ञानात्-ज्ञानावरणादिकर्माच्छादितचैतन्यात्॥ ५॥ अथ कर्तृकर्मादित्रयं पृथगुपदिशति पद्यचतुष्टयेन——

[illegible] है सो तो कर्त्ता अर कर्म दोऊकी परिणतिकूं जानता संता प्रवर्ते है। बहुरि पुद्गल है सो अपनी अर परकी दोऊ ही की परिणतिकूं नाहीं जानता संता प्रवर्ते है। ऐसें ते दोऊ परस्पर अंतरंग व्याप्यव्यापकभावकूं प्राप्त होनेकूं [illegible] हैं जातें दोऊ भिन्न द्रव्य हैं। सो सदाकाल तिनिकै अत्यंत भेद है। सो ऐसें होतैं, इनिकै कर्ताकर्मभाव मानना भ्रमबुद्धि है। सो यहु जैसें इनि दोऊनिकै करोतकीज्यौं निर्दय होय तत्काल भेदकूं उपजाय भेदज्ञान है [illegible] प्रगट उदय होय तैसें ऐसा जाननहारा न होय, जौंही है। भावार्थ–भेदज्ञान भये पीछे पुद्गलकै अर जीवकै कर्तृकर्मभावकी बुद्धि न रहै। जौंलौं भेदज्ञान नाहीं होय तौंही अज्ञानतैं कर्तृकर्मभावकी बुद्धि है।

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥ ६ ॥

टी॰—यः आत्मा वा, पुद्गलो वा परिणमति स्वपर्यायान् प्रति परिणामं प्राप्नोति यथोत्तरंगनिस्तरंगावस्थयोः समीरसंचरणासंभवेऽपि समीरपारावारयोः कर्तृकर्मत्वाभावात् पारावार एवादिमध्यांतेषूत्तरंगनिस्तरंगावस्थे व्याप्य उत्तरंगनिस्तरंगत्वात्मानं कुर्वन् कर्ता तथा संसारनिःसंसारयोः पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभवनिमित्तयोरपि कर्तृकर्मत्वाभावात् जीव एवादिमध्यांतेषु ते अवस्थे व्याप्य, उभयस्वरूपमात्मानं कुर्वन् कर्ता, एवं पुद्गलेऽपि योज्यं, तु पुनः, यः परिणामो भवेत् तत्कर्म, यथा तस्यैवोत्तरंगनिस्तरंगात्मानमनुभवतः स एव परिणामः कर्म तथा तस्य संसारं निस्संसारं त्वनुभवतः स एव परिणामः कर्म, या परिणतिः स्वपरिणामे परिणमनं सा क्रिया वस्तुतया वस्तुरूपेण ऐक्यात् त्रयमपि कर्तृकर्मपरिणतिरूपं भिन्नं अन्यत् न भवेत् क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना, परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्नः, परिणाम्यपि क्रियापरिणामयोरभिन्नत्वात्परिणामतोऽभिन्नः॥ ६॥

अर्थ–जो परिणमै है सो कर्ता है, बहुरि जो परिणम्या ताका परिणाम है सो कर्म है, बहुरि जो परिणति है सो क्रिया है ए तीनूंही वस्तुस्वरूपकरि भिन्न नाहीं हैं। भावार्थ- द्रव्यदृष्टिकरि परिणाम अर परिणामीका अभेद है अर पर्यायदृष्टिकरि भेद है। तहां भेददृष्टिकरि तो कर्ता, कर्म, क्रिया तीन कहिये है, अर इहां अभेद दृष्टि परमार्थ कह्या है जो कर्ता कर्म क्रिया तीनूंही एक द्रव्यकी अवस्था है प्रदेशभेदरूप न्यारे वस्तु नाहीं है। फेरि कहै हैं–

एकः परिंणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥ ७ ॥

सं० टी०—अनेकत्वेऽपि एकत्वमिति स्फुटयति-एकः आत्मा, सदा-नित्यं परिणमति-परिणामयुक्तो भवति, सदा-निरंतरं, एकस्य आत्मनः, परिणामः-शुभाशुभलक्षणः, जायते-उत्पद्यते, एकस्य-आत्मनः, परिणतिः-परिणमनलक्षणा क्रिया स्यात्, यथा किल कुलालः कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः घटादिरूपं मृत्तिकया क्रियमाणं प्रति अभिन्नतामनुभवति तथा-आत्मापि पुद्गलपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः पुद्गलक्रियया क्रियमाणं कर्म प्रत्यभिन्नतामनुभवति यतः-अभिन्नत्वं तेषां त्रयाणां, अनेकमपि-कर्तृकर्मक्रियारूपेणानेकमपि एकमेव वस्तुतस्तेषामभिन्नत्वेनैक्यं ॥ ७ ॥

अर्थ—वस्तु एकही सदा परिणमै है, बहुरि एकहीकै सदा परिणाम उपजै है, अवस्थासूं अन्य अवस्था होय है। बहुरि एकहीकै परिणतिक्रिया होय है। जातैं अनेकरूप भया तौऊ एकही वस्तु है भेद नाहीं है। भावार्थ-एक वस्तु-के अनेकपर्याय होय हैं, तिनिकूं परिणामभी कहिये अवस्था भी कहिये। ते संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनादिककरि न्यारे न्यारे प्रतिभासरूप हैं। तौऊ एक वस्तुही है, न्यारे नाहीं हैं, ऐसाही भेद अभेदस्वरूप वस्तुका स्वभाव है। फेरि कहै हैं-

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥ ८ ॥

सं० टी०—उभौ-जीवपुद्गलौ, खलु इति निश्चितं, परिणमतः-परिणामं गच्छतः न-नहि, एक एव हि परिणमति यथा कुलालः घटनिष्पादाभिमानपरिणामं प्रति परिणमति न तु घटभवनक्रियायां, तथा जीवः कर्मनिष्पादनाभिमानपरिणामं प्रति परिणमति, न पुद्गलद्रव्यनिष्पादितकर्मक्रियां प्रति, उभयोः जीवपुद्गलयोः, परिणामः-परिणतिः, न जायते-नोत्पद्यते, परस्परं भिन्नस्वभावत्वात्, उभयोः-परात्मनोः, परिणतिः-परिणमनलक्षणा क्रिया न स्यात्-न भवेत्, परस्परं स्वस्वभावे भिन्नपरिणतिसद्भावात्, यतः-यस्मात् कारणात्, अनेकं-न एकं अनेकं जीवपुद्गलौ सदा-नित्यं, अनेकमेव भिन्नमेव ॥ ८ ॥

जो दोय द्रव्य हैं ते एक होय परिणमै नाहीं है बहुरि दोय द्रव्यका एक परिणाम नाहीं होय है बहुरि दोय द्रव्यकी एक परिणति क्रिया नाहीं होय है जातैं जो अनेक द्रव्य है सो अनेकही है, पलटिकरि एक नाहीं होय है। भावार्थ—जो दोय वस्तु हैं ते सर्वथा भिन्नही हैं प्रदेशभेदरूपही हैं, दोऊ एक होय परिणमै नाहीं, एक परिणामकूं उपजावै नाहीं, तिनिकी एक क्रिया होय नाहीं। ऐसा नियम है। जो दोय द्रव्य एक होय परिणमैं तौ सर्व द्रव्यनिका लोप होय। फेरि इसही अर्थकूं दृढ करै है—

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य न क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥ ९ ॥

सं० टी०—एकस्य-परिणामस्य चेतनालक्षणस्य कर्मलक्षणस्य वा हीति निश्चितं द्वौ-जीवपुद्गलौ, कर्तारौ-कारकौ, न स्तः न भवतः, चेतनाया जीव एव कर्ता, कर्मणः पुद्गल एव कर्ता, चेति भिन्नप्रक्रमे। एकस्य जीवस्य पुद्गलस्य वा द्वे कर्मणी-चेतनाकर्मलक्षणे न स्तः, च-पुनः, एकस्य कर्तुः-जीवस्य पुद्गलस्य वा द्वे क्रिये-परिणती द्वे, न स्तः, जीवस्य चेतनाक्रियां प्रति परिणतत्वात्, पुद्गलस्य कर्मक्रियां प्रति परिणतत्वात्। यथा कुलालः स्वपरिणतिक्रियां प्रति परिणतः, मृद्द्रव्यं तु कलशक्रियां प्रति परिणतं। तावत् मृद्द्रव्यं कलशक्रियां प्रति हेतुर्न स्यात्, यतः-पूर्वोक्तकारणात्, एकं-अखंडं द्रव्यं जीवादि अनेकं-परपरिणामरूपपरिणामाभावात् अनेकरूपं, न स्यात्-न भवेत्, अथवा-एकं-जीवादि, अनेकं स्वकर्तृकर्मक्रियारूपं यतः कुतो न भवेत्, अपि तु भवेदेव ॥ ९ ॥ अथाज्ञानमाहात्म्यविषं निरूपयति—

अर्थ-एकद्रव्यका दोय कर्ता न होय; बहुरि एक द्रव्यका दोय कर्म न होय, बहुरि एक द्रव्यकी दोय क्रिया न होय। जातैं एकद्रव्य है सो अनेकद्रव्य होय नाहीं ॥ भावार्थ—यह निश्चयनयकरि नियम है सो शुद्धद्रव्यार्थिकनयकरि ऐसा जानना ॥ अब कहै हैं, जो आत्माकै अनादितैं परद्रव्यका कर्ताकर्मपणाका अज्ञान है सो जो यह परमार्थनयका ग्रहणकरि एकबारभी विलय होय तौ फेरि न आवै ॥

विशेष-इन चार श्लोकोंमें जो संस्कृत टीकाकारने कुलालका दृष्टांत देकर आत्माके स्वरूपको समझाया है वह अति उत्तम है टीकाकारकी टीका सरल है इसलिये कुलाल दृष्टांतका हमने भाव नहिं लिखा ॥ ९ ॥

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चैर्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।

तद् भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्तत्किं ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥१०॥

सं० टी०—ननु इति वितर्के, इह-जगति, इति-अमुना प्रकारेण धावति-अत्यर्थं प्रसर्पति व्याप्नोतीति यावत्। किं ? महाहंकाररूपं-महान्-सकलप्राण्यतिशायी स चासौ अहंकारश्च मयेदं कृतमित्यादिरूपो गर्वः, स एव रूपं स्वरूपं यस्य तत्, तमः-अज्ञानं, केषां ? मोहिनां-मोहग्राहग्रस्तानां देहिनां, किंभूतं ? उच्चकैः-अत्यर्थं, दुर्वारं-वारयितुमशक्यं, कियत्पर्यंतं धावति ? आसंसारत एव-यावत्पर्यंतं पंचपरिवर्तनरूपसंसारस्तावत्पर्यंतं प्रसर्पत्येव । इति किं ? कुर्वे-निष्पादयामि करिष्ये वा 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवदिति' सूत्राद्भविष्यदर्थे वर्तमानात्, अहं-कर्तृभूतः, किं ? परं-परद्रव्यं-गृहपुत्रवित्तादशरीरकर्मादिरूपं। यदि-यदा, व्रजेत्-गच्छेत्, विलयं-विनाशं, तत् तमः-कर्तृ, एकवारं-सकृद्वारं, केन ? भूतेत्यादि-शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन, तत्-तर्हि, किं ?-तावत् किं स्यात्, अपि तु न स्यादित्यर्थः, भूयः-पुनः, अहो, किं ? बंधनं-कर्माश्लेषणं, कस्य आत्मनः-चिद्रूपस्य किंभूतस्य ? ज्ञानघनस्य-बोधनिरतस्य ॥ १० ॥ अथात्मपरभावं वाभज्यते—

अर्थ-इस जगतविषैं मोही अज्ञानी जीवनिका "यह मैं परद्रव्यकूं करौं हौं" ऐसा परद्रव्यका कर्तृत्वका अहंकाररूप अज्ञानांधकार अनादि संसारतैं लगाय चल्या आवै है। कैसा है ? अतिशयकरि दुर्वार है निवारया न जाय है । सो आचार्य कहै हैं-जो, शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनय परमार्थ है सत्यार्थ है, ताका ग्रहणकरिकै जो एकवारमी नाश हो जाय तौ यह जीव ज्ञानघन है सो यथार्थज्ञान भये पीछैं कहां ज्ञान जाता रहै ? नाहीं जाय, अर ज्ञान न जाय तब कहां फेरि अज्ञानतैं बंध होय ? कदाचित् नाहीं होय ॥ भावार्थ-इहां तात्पर्य ऐसा, जो अज्ञान तौ अनादिकाहीका है, परंतु दर्शनमोहका नाशकरि एकवार यथार्थज्ञान होयकरि क्षायिक सम्यक्त्व उपजै तौ फेरि मिथ्यात्व नाहीं आवै तब मिथ्यात्वका बंध न होय अर मिथ्यात्व गये पीछैं संसारका बंधन काहेकूं रहै ? मोक्षही पावै ऐसा जानना ॥ फेरि विशेषकरि कहै हैं-

आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावा परस्य पर एव ते ॥ ११ ॥

सं० टी०-आत्मा-चेतनः, करोति-विदधाति वेदयते वा, कान् ? आत्मभावान्-मतिश्रुतावधिप्रमुखविभावपर्यायान्, केवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यरूपशुद्धपर्यायांश्च, परः-पुद्गलपदार्थः, परभावान्-ज्ञानादन्यान् स्वभावविभावपर्यायान्, करोतीति संबंधः। कुतः ? हीति यतः, आत्मनः भावाः-पर्यायाः, आत्मैव द्रव्यादेशात् पर्यायाणामात्मस्वभावत्वात्, अत एव न ते-पर-

[illegible] एव पुद्गल एव कर्मोऽन्यतिरिक्तत्वात्, इति ये स्वभावास्ते तदीयाः, न परकीया इति [illegible] ॥ ११ ॥ अथ अज्ञानमयो [illegible] —

[illegible] है सो तौ अपने भावनिहूं करै है बहुरि परद्रव्य है सो परके भावनिहूं करै है । जातैं अपने भाव हैं [illegible] है यह नियम है ॥

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालं ॥ १२ ॥

[illegible] पुमान्, रज्यते-याहलाभादिकारणकलापाद्रागं गच्छति, कुतः ? [illegible], किं कुर्वन् ? स्वयं स्वतः, ज्ञानं-शुद्धात्मज्ञानं, भवन्नपि-चिंतयन्नपि, अनुभवन्नपि वा, [illegible], स पुमान्, सेलादि-तृणेन सह वर्तमानः सतृणः, अभ्यवहारः-उत्तमाहारः पायसशर्करा-[illegible] करोतीत्येवं शीलः स तथोक्तः तृणसहितोत्तमाहारभोजीत्यर्थः, यथा तृणादिकमनिष्टं [illegible] शुभाशुभं, तथा रागस्य तृणस्थानीयत्वात् अशुभत्वं, ज्ञानानुभवस्य [illegible] शुभत्वं । नूनं-निश्चितं, असौ ज्ञानरागयोरेकत्वानुभावुकः पुमान् गां धेनुं दुग्धं-क्षीरं दोग्धीव प्ररूपयति [illegible] ? दधीत्यादि दधि-दुग्धविकारमाम्लरसोपेतं, इक्षु मधुररसो गतः इक्षुदंडः, द्वंद्वः तयोः मधुराम्लरसस्तयोरति-[illegible], तया, किं कृत्वा ? पीत्वा-पानं कृत्वा, कां ? रसालां-रसनाविषयासक्तजनाःवस्त्रगालितदधिशर्करां मृष्ट्वा क-[illegible] रसान्तरं प्राप्य रसालामिति भणंति शिखरिणीति देशभाषायां, यथा कश्चित् रसालामास्वाद्य तद्भेदमजानन् गोदोंहनक्रि-[illegible] प्रवर्तते तथा परात्मभेदमजानन् क्रोधादौ कर्तृत्वेन प्रवर्तत इति तात्पर्यं ॥ १२ ॥ अथाज्ञानवि-[illegible] —

अर्थ-जो पुरुष आप निश्चयतैं ज्ञानस्वरूप होता संतामी अज्ञानतैं तृणसहित अन्नादिक सुंदर आहारकूं मिल्या हुवा [illegible] आदि तिर्यंचकीज्यौं होय भक्ष होय है, सो कहा करै है ताका दृष्टांत कहै हैं—जैसैं कोई रसाला कहिये [illegible] पीयकरि तिनके दहींमांडिका मिल्या हुवा खाटा मीठा रस, तिसका अति चाहिकरि तिसका रसभेदकूं न जा-[illegible] है । भावार्थ-कोई पुरुष शिखरिणी पीयकरि ताके स्वादकी अतिचाहितैं रसका ज्ञान-

विना ऐसा जान्या-जो, यह गऊका दूधमैं स्वाद है। सो गऊकूं अतिलुब्ध होय करि दोहै है तैसैं अज्ञानी पुरुष आपापरका भेद न जानि विषयनिमैं स्वाद जानि पुद्गलकर्मकूं अतिलुब्ध होय ग्रहण करै है, अपना ज्ञानका अर पुद्गलकर्मका स्वाद जानि भिन्न नाहीं अनुभवै है। तिर्यंचकीज्यों अन्नकूं घासमैं मिल्या एक स्वाद लेहै ॥ फेरि कहै हैं, जो, ऐसैं अज्ञानतैं पुद्गलकर्मका कर्ता होय है ॥

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावंति पातुं मृगा अज्ञानात्तमसि द्रवंति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत् शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवंत्याकुलाः ॥

सं० टी०--अमी एते लोकाः, स्वयं-स्वत एव, कर्त्रीभवंति-मया कर्म कृतमिति कर्मणां कर्तारो भवंति, कीदृशा अपि? शुद्धज्ञानमया अपि-निर्मलभेदबोधप्राचुर्यां, अभेदज्ञानिनः कथं कर्मकर्तारो न स्युरित्यपिशब्दार्थः, आकुलाः संतः, कुतः ? अज्ञानात् भेदज्ञानाभावात्। पुनः कुतः ? विकल्पेत्यादि:-विकल्पानां चक्रं-समूहः, तस्य करणाच्च कृतश्च हेतोः, अत्रैवार्थांतरन्यासमाह वातोदित्यादि: वातेन-वायुना,उत्तरंगः-उर्ध्वोर्मिमयः, स चासावब्धिश्च तद्वत् यथोत्तरंगरहितोऽब्धिर्वातेनोत्तरंगीयते तथा शुद्धज्ञानोपि अज्ञानात्कर्ता भवतीत्यर्थः। लौकिकनिदर्शनेनाज्ञानस्य माहात्म्यमाह-मृगाः-हरिणाः, धावंति-प्रसर्पंति, किमर्थं? पातुं-पानार्थं, कां? मृगतृष्णिकां-मरीचिकां, कया ? जलधिया-पानीयाभावेऽपि पानीयबुद्ध्या, अज्ञानात्-ज्ञानाभावमाश्रित्य, ज्ञानिनश्चेत्तर्हि तत्र कथं धावंति ? तथा ऽज्ञानिनः भोगसुखे शरीरादौ च सुखधिया-ममत्वधिया च वर्तंते इति भावार्थः। पुनः-द्रवंति-पलायनं कुर्वंति, क? तमसि-तिमिरे, के? जनाः-पुरुषाः, केन? रज्जौ-वराटके 'शुल्बो वराटकः स्त्री तु रज्जुः स्त्रीषु वटी गुणः' इत्यमरः, भुजगाध्यासेन भुजगोयमित्यारोपबुद्ध्या, कुतः ? अज्ञानात्-अज्ञानमाश्रित्य यथा रज्जौ भुजग इति कृत्वा वर्तंते तथा स्वे परकीयं, परशरीरादौ स्वमिति कृत्वा वर्तंते अज्ञानिनः ॥ १२ ॥ अथ ज्ञानविलासमाविष्करोति—

अर्थ-ए लोकके जन हैं ते निश्चयकरि शुद्ध एक ज्ञानमयी हैं, तौऊ आप अज्ञानतैं व्याकुल होय परद्रव्यका कर्तारूप होय हैं ॥ जैसैं पवनकरि कल्लोलनिसहित समुद्र होय है, तैसैं विकल्पनिके समूह करै हैं यातैं कर्ता बनै हैं। देखो-अज्ञानहीतैं मृग हैं ते माडलीकूं जल जानि पीवनेकूं दौडै हैं, बहुरि अज्ञानहीतैं लोक अंधकारमैं जेवडेविषै सर्पका निश्चय करि भयकरि भागै हैं ॥ भावार्थ-अज्ञानतैं कहा कहा न होय? मृग तौ माडलीकूं जल जानि पीवनेकूं दौडि खेदखिन्न होय हैं ॥ लोक अंधारेमैं जेवडेकूं सर्प मानि डरिकरि भागै हैं ॥ ऐसैं ही यह आत्मा, जैसैं वातकरि समुद्र क्षोभरूप होय

व्यवहारकः, एकत्रीभूतयोः पावकपयसोर्भेदं निश्चिनोति, अभेदवस्तयोरभेदमेव तथा ज्ञानी एकत्रीभूतयोः परात्मनोर्भेदं निश्चिनोति नाज्ञानी। तथा उल्लसति-उल्लासं गच्छति, कः ? लवणेत्यादिः लवणस्वादस्य-क्षारलवणस्य कटुकाम्लव्यंजनस्वादात् भेदः विशेषः, तस्य व्युदासः-ज्ञानं, कुतः ? ज्ञानादेव यथा कश्चिद्भोजनभेदज्ञो व्यंजनलवणयोर्भेदं व्यक्तं वेत्ति, अभेदज्ञः इदं क्षारस्वादं व्यंजनमेव तथा ज्ञानी क्रोधादिज्ञानयोरेकत्रीभूतयोः पृथक् स्वभावं परिच्छिनत्ति, अज्ञानी तु क्रोधमयमात्मैवेति वेत्ति इति तात्पर्यं। प्रतिवस्तूपमालंकारोयं यदाह वाग्भट्टः—

अनुपात्तविवादानां वस्तुनः प्रतिवस्तुना।
यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥

॥ १५ ॥ अथात्मनः स्वपरभावयोः कर्तृत्वं निवेद्यते—

अर्थ—अग्निकी अर जलकी उष्णपणाकी अर शीतपणाकी व्यवस्था है सो ज्ञानहीतैं जानिये है ॥ बहुरि लवणका अर व्यंजनका स्वादका भेद है सो ज्ञानहीतैं जानिये है ॥ बहुरि अपने रसकरि विकासरूप होता जो नित्य चैतन्यधातु, ताका अर क्रोधादिकभावका भेद है सोभी ज्ञानहीतैं जानिये है। कैसा है यह भेद ? कर्तापणाका भाव है ताकूं भेदरूप करता संता प्रगट होय है ॥ फेरि कहे हैं, जो, आत्मा कर्ता होय है, तौऊ अपनेही भावका है—

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥ १६ ॥

सं० टी०—आत्मा-चिद्रूपः, आत्मभावस्य-स्वस्वरूपस्य, कर्ता स्यात्-भवेत्। किंकुर्वन् ? अंजसा-परमार्थतः आत्मानं-स्वस्वरूपं, ज्ञानं-बोधं, अपि-पुनः, एवं-निश्चयेन, अज्ञानं बोधविपर्ययं, कुर्वन् निष्पादयन् यःकिल क्रोधोहमित्यादिवत्, यः मोहोहमित्यादिवच परद्रव्याण्यात्मीकरोति, आत्मानमपि परद्रव्यं करोत्येवमात्मा तदायमज्ञानकर्ता, क्वचित्-कदाचित्-परभावस्य-पुद्गलपर्यायस्य न कर्ता, स्यात् ॥ १६ ॥ अथात्मनो व्यवहारिणां कर्तृत्वमतिं व्युपदिशति—

अर्थ—ऐसैं अज्ञानरूपभी तथा ज्ञानरूपभी आत्माहीकूं करता संता आत्मा प्रगटपणे अपनेही भावका कर्ता है परभावका कर्ता तौ कहूंही नाहीं है ॥

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किं।

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥ १९ ॥

सं॰ टी॰—खलु-इति वितर्के इति- पूर्वपक्षप्रकारेण, ननु पुद्गलद्रव्यं स्वयमबद्धं सज्जीवे कर्मभावेन न परिणमते तस्य सर्वथैकस्वभावत्वात् इति चेन्न, अपरिणामिनो नित्यस्यार्थक्रियाकारित्वविरोधात् । अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता ते च नित्यान्निवर्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादायापि निवर्तेते, सापि स्वव्याप्यं सत्वमादाय निवर्तते जीवस्याबंधे च संसाराभावात्, इति युक्त्या सांख्यादिना कूटस्थनित्यवादिना विघ्नं कर्तुं न शक्यते वस्तुस्वभावस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् ज्वलनौष्ण्यवत् । नन्वात्मा पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमयति ततो न संसाराभावः, इति चेन् तर्हात्मा स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा तत्परिणमयेत् ? न तावत्प्राक्तनः पक्षः कक्षीकर्तव्यः प्रेक्षादक्षैः, अपरिणममानस्य तस्य परेण परिणमयितुमशक्यत्वात्, नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । अथोत्तरः पक्षः, तदा तस्य स्वयमेव परिणमनात् परापेक्षणायोगाच्च । तस्य परिणामशक्तौ, स्थितायां-व्यवस्थितायां, सोयं-पुद्गलः, आत्मनः-स्वरूपस्य, भावं--परिणामं, करोति--निष्पादयति, तस्य-भावस्य, स एव पुद्गल एव कर्ता-कारकः, नान्यः ॥ १९ ॥ अथ सांख्यवादिनं प्रति जीवस्य नित्यत्वं निरस्यति—

अर्थ-ऐसैं उक्तप्रकारकरि पुद्गलद्रव्यकै परिणामशक्ति स्वभावभूत निर्विघ्नसिद्ध भई ठहरी । ताकूं ठहरते संते सो पुद्गलद्रव्य जिस भावकूं आपकै करै है, ताका सो पुद्गलद्रव्यही कर्ता है ॥ भावार्थ--सर्वद्रव्यनिकै परिणामस्वभावपणा सिद्ध है तातैं जाका भावका जोही कर्ता है । सो *पुद्गलद्रव्यभी जिस भावकूं आपकै करै है, ताका सोही कर्ता है ॥*

स्थितेति जीवस्य निरंतरा या स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥ २० ॥

सं॰ टी॰--नन्वपरिणामी जीवस्तदा कूटस्थत्वादकारकः स्यात् यदि सोऽस्त्वकारको विक्रियदन्नेति चेन्न, प्रमाणादीनामकर्तृकत्वात्तत्फलाभावप्रसंगात्, न ह्यकारकः कश्चित् प्रमाता, प्रमातृत्वाभावादात्मनोऽप्यभावः, गुणाभावे हि गुणिनोऽप्यभावात् । ननु स्वयमबद्धः सन् क्रोधादिभावेन न परिणमते, इति कश्चित्सांख्यः, सोऽपि न विपश्चिद्दक्षः, तदपरिणामित्वे संसाराभावप्रसंगात् । यदि क्रोधादिसंयोगभावेन परिणमत्यसौ जपाजातरक्तसंयुक्तस्फटिकवदिति न संसाराभावः, इति चेत्तर्हि क्रोधा-

भवंति-जायंते, ज्ञानात् ज्ञाननिर्वृत्ता एव भावाः, यथा जांबूनदजातितो जांबूनदपात्रकुंडलादयः । तु-पुनः, अज्ञानिनः पुंसः, ते प्रसिद्धाः अहंकारादयः, सर्वेऽपि-समस्ता अपि अज्ञाननिर्वृत्ताः ये-अज्ञानमया एव भवंति जायंते यथा कालायसमया-ज्ञायात् कालायसपात्रवलयादयः, तथाऽज्ञानतस्तु अज्ञाननिर्वृत्ता एव भावाः, तथा चोक्तं—

द्वैताद् द्वैतमद्वैताद्वैतं खलु जायते । लोहाल्लोहमयं पात्रं हेम्नो हैममयं यथा ॥ इति

॥ २२ ॥ अज्ञानत एव कर्मणां बंधमिति प्रतिजानीते—

अर्थ—ज्ञानीके सर्वही भाव हैं ते ज्ञानकरि निपजे हैं । बहुरि अज्ञानीके जे सर्वही भाव हैं ते अज्ञानकरि निपजे हैं ॥

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकां ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुतां ॥ २३ ॥

सं० टी०—अज्ञानी-ज्ञानच्युतः पुमान्, एति प्राप्नोति, कां ? हेतुतां-कारणतां, केषां द्रव्येत्यादि-द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादीनां निमित्तानि-कारणानि तेषां भावानां पर्यायाणां-मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगप्रमादादिरूपाणां, किंकृत्वा ? व्याप्य-प्राप्य, कां ? भूमिकां स्थानं, केषां ? अज्ञानमयभावानां-मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणानां ॥ २३॥ अथानयपक्षपाते सुखभावेदयति-

अर्थ—अज्ञानी है सो अज्ञानमय अपने भाव, तिनिकी भूमिकाकूं व्याप्यकरि आगामी द्रव्यकर्मकूं कारण जे अज्ञानादिक भाव, तिनिका हेतुपणाकूं प्राप्त होय है ॥

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यं ।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति ॥ २४ ॥

सं० टी०—य एव योगिनः, निवसंति-तिष्ठंति, नित्यं-निरंतरं-आजन्मपर्यंतं, किंभूताः संतः ? स्वरूपगुप्ताः-स्वरूपे-निजचिद्रूपे गुप्तिर्गोपनं येषां ते 'अभ्रादिभ्यः' इति जैनेंद्रसूत्रेणाभ्यर्थे अः, किंकृत्वा ? मुक्त्वा-हित्वा, कं ? नयपक्षपातं-नयानां-अपि कर्म बद्धमबद्धं चेत्यादिरूपाणां नयेषु वा पक्षपातः-ममत्वाभिनिवेशस्तं, त एव पुरुषाः, नयं मुक्त्वा पिबंति-पानं कुर्वंति आस्वादयंतीत्यर्थः, साक्षात्-प्रत्यक्षं, किं ? अमृतं-न म्रियते येन परात्मध्यानेन तदमृतं परमात्मध्यानामुक्तिनिवासित्वेन मरणनिवर्हकत्वात्, किंभूताः संतः ? विकल्पेत्यादिः विकल्पानां जालं-समूहः, तेन च्युतं-रहितं, शांतं-उपशमं प्राप्तं, चित्तं-मानसं येषां ते ॥ २४ ॥ अथ बद्धमूढरक्तदुष्टकर्त्रितरादिनयविभागं जेगीयते—

[illegible] गुन होय निरंतर रमैं हैं, तेही पुरुष विकल्पके जालतैं र-
[illegible] साक्षात् अमृतकूं पीवै हैं ॥ भावार्थ—जेतैं कछु पक्षपात रहै तेतैं चित्तका
[illegible] जाय, तब वीतरागदशा होय स्वरूपकी श्रद्धा निर्विकल्प होय अर स्व-
[illegible] करि करै हैं, अर तिनकूं छोडै है सो तत्त्वज्ञानी है स्वरूपकूं पावै है' ऐसा
[illegible]

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २५ ॥

[illegible] नयस्याभिप्रायेणात्मा बद्धः-कर्मभिर्निबद्धः, तथा-तेनैव प्रका-
[illegible] नयस्याभिप्रायेणात्मा न बद्धः कर्मभिः, इति-अमुना प्रकारेण, चिति-चि-
[illegible] द्वौ-उभौ, पक्षपातौ अभिनिवेशौ स्तः, यः-कश्चित्, तत्त्ववेदी-परमार्थवेत्ता सन्,
[illegible] पक्षपातरहितः भवतीत्यध्याहार्यं, तस्य-तत्त्ववेदिनः, खलु इति नियमेन, नित्यं-निरंतरं, चित्
[illegible] अस्ति भवति, साक्षात्केवलज्ञानी भवतीति यावत् ॥ २५ ॥

[illegible] जीव है सो एकनयका तौ कर्मकरि बंध्या है ऐसा पक्ष है । बहुरि दूसरे नयका कर्मकरि नाहीं
[illegible] पक्ष है । ऐसे दोऊही नयके दोऊ पक्ष हैं । सो ऐसें दोऊ नयका जाकै पक्षपात है सो तौ तत्त्ववेदी
नाहीं है । बहुरि जो तत्त्ववेदी है, तत्त्वका स्वरूप जाननेवाला है, सो पक्षपातरहित है । तिस पुरुषका जो चिन्मात्र
[illegible] है सो चिन्मात्र ही है । यामैं पक्षपातकरि कल्पना नाहीं करै है ॥ भावार्थ—इहां शुद्धनयकूं प्रधानकरि कथन है ।
[illegible] पदार्थकूं शुद्ध नित्य अभेद चैतन्यमात्र स्थापि कर कहै हैं, जो इस शुद्धनयकामी जो पक्षपात करेगा, सो
[illegible] नाहीं पावैगा । [illegible] तौ गौणकरि कहनेही आवै है । अर कोई शुद्धनयकामी जो प-
[illegible] न मिटैगा । तब वीतरागता नाहीं होयगी । तातैं पक्षपातकूं छोडि चिन्मात्रस्वरूपविषैं
[illegible] पावै है । अर चैतन्यके परिणाम परनिमित्ततैं अनेक होय हैं । तिनि सर्वनिकूं गौण कहनेही आवै

है। तातैं सर्वपक्ष छोडि शुद्धस्वरूपका श्रद्धान करि पीछै स्वरूपविषैं प्रवृत्तिरूप चारित्र भये वीतरागदशा करना योग्य है ॥ अब जैसैं बद्ध अबद्धपक्ष छुडाई तैसैंही अन्यपक्षकूं प्रगट कहिकरि छुडावै हैं–

एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २६ ॥

अर्थ–एकनयके तौ जीव मूढ है मोही है, बहुरि दूसरे नयके मूढ नाहीं है यह पक्ष है। ऐसे ये दोऊही चैतन्यविषैं पक्षपात हैं। बहुरि जो तत्त्ववेदी है सो पक्षपातरहित है, ताका चित् है सो चित्‌ही है, मोही अमोही नाहीं है ॥

एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २७ ॥

अर्थ–एकनयके तौ यह जीव रक्त कहिये रागी है ऐसा पक्ष है, बहुरि दूसरे नयके रक्त नाहीं है ऐसा पक्षपात है। सो ए दोऊही चैतन्यविषैं नयके पक्षपात हैं ॥ बहुरि जो तत्त्ववेदी है सो पक्षपातरहित है, ताकै पक्षपात नाहीं है, ताकै जो चित् है सो चित् ही है ॥

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २८ ॥
एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
[illegible]स्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २९ ॥
[illegible] भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
[illegible] च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३० ॥
[illegible] न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

यस्मात्त्वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३१ ॥
एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्मात्त्वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३२ ॥
एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्मात्त्वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३३ ॥
एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्मात्त्वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३४ ॥
एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्मात्त्वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३५ ॥
एकस्य नेको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्मात्त्वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३६ ॥
एकस्य सांतो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्मात्त्वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३७ ॥
एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्मात्त्वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३८ ॥
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्मात्त्वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३९ ॥

एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४० ॥
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४१ ॥
एकस्य देश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४२ ॥
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४३ ॥
एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४४ ॥

सं॰ टी॰—पूर्ववद् व्याख्येयानि मूढरक्तेतरादिपदपरिवर्तनेन ॥ २६-४४ ॥ अथ नयातिक्रमेण स्वानुभूतिमुपदर्शयति—

अर्थ—एक नयकै तौ दुष्ट कहिये द्वेषी है, बहुरि दूसरे नयके दुष्ट नाहीं है । ऐसें ए चैतन्यविषैं दोऊ नयके दोय पक्षपात हैं ॥ एक नयके कर्ता है, दूसरे नयके कर्ता नाहीं है । ए ऐसे चैतन्यविषैं दोऊ नयके दोऊ पक्षपात हैं ॥ एक नयके भोक्ता है, दूसरे नयके भोक्ता नाहीं है । ए चैतन्यविषैं दोऊ नयके दोऊ पक्षपात हैं, एक नयके जीव है, दूसरे नयके जीव नाहीं है । ए चैतन्यविषैं दोऊ नयके दोऊ पक्षपात हैं ॥ एक नयके सूक्ष्म है, दूसरे नयके सूक्ष्म नाहीं । ऐसे ए चैतन्यविषैं दोऊ नयके दोऊ पक्षपात हैं ॥ एक नयके हेतु है, दूसरे नयके हेतु नाहीं है । ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं ॥ एक नयके कार्य है, दूसरे नयके कार्य नाहीं । ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं ॥ एक नयके भावरूप है दूसरे नयके अभावरूप है । ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं ॥ एक नयके एक है, दूसरे नयके अनेक है । ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं ॥ एक नयके सांत कहिये अंतसहित है, दूसरे नयके अंतसहित

च्छया समुच्छलंतश्च तेऽनंतत्वविकल्पाश्च तेषां जालं समूहो यस्या सा तां, महतीं-महाप्रसरप्रामां ॥ ४५ ॥ अथ विकल्पजालं धिकृत्य स्वरूपं तंतन्यते—

अर्थ—जो तत्वका जाननेवाला पुरुष है सो पूर्वोक्तप्रकार आपे आप उठने हैं बहुत विकल्पनिके जाल जामें, ऐसी जो बड़ी नयपक्षरूप वनी ताकूं उल्लंघ्यकरि अर समरस जो वीतरागभाव सोही है एकरस जामें ऐसा है स्वभाव जाका ऐसा जो आत्माका भाव अपना स्वरूप अनुभूतिमात्र, ताकूं प्राप्त होय है ॥ फेरि कहे हैं—

इंद्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥ ४६ ॥

सं० टी०—यस्य चिन्महसः, विस्फुरणमेव प्रकाशनमेव, इदं प्रसिद्धं, ममैतदन्याहमित्यादिरूपं, कृत्स्नं-समस्तं, इंद्रजालं महेंद्रादिशास्त्रप्रणीतविद्यासादृश्य यादृसद्रूप यावेदं सर्वमिंद्रजालं-तत्क्षणं-उदयकालं, अस्यति-निराकरोति, किंभूतं ? उच्छलत् अधिकं प्रापयत्, काभिः ? पुष्कलेत्यादि-विकल्पममत्वादिरूपाः संकल्पास्त एव वीचयः कल्लोलाः पुष्कलाः- बहुलास्ताश्च ता उच्चलंत्यः-ऊर्ध्वं प्राप्नुवंत्यश्च ता विकल्पवीचयस्ताभिः, तत्-प्रसिद्धं, चिन्महः चित्स्वरूपं धाम, अस्मि-भवामि ॥ ४६ ॥ अथ समयसारचेतनामाचिंतयति—

अर्थ—तत्ववेदी ऐसा अनुभवन करै है जो मैं चिन्मात्र मह-तेजका पुंज हूं। जाका स्फुरायमान होनाही, बडी बडी पुष्ट उठती चंचल जे विकल्परूप लहरीं, तिनिकरि उछलता इनि नयनिका प्रवर्तनरूप इंद्रजाल, ताहि तत्काल समस्त-निहींकूं दूरी करै है ॥ भावार्थ—चैतन्यका अनुभवन ऐसा है, जो याकै होतें समस्तनयनिका विकल्परूप इंद्रजाल है सो तत्काल विलय हो जाय है ॥

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकं ।
बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारं ॥ ४७ ॥

सं० टी०—चेतये-चिंतयामि-ध्यानविषयीकरोमीत्यर्थः, कं ? समयसारं सम्यक् अयंति-गच्छंति निजगुणपर्यायानिति समयाः-पदार्थाः, अथवा समयंति-जानंति स्वरूपमिति आत्मानः, तेषां मध्ये सारः श्रेष्ठस्तं, किंभूतं अपारं-गुणपाररहितं पुनः

अचलं-निश्चलं यथा भवति तथा, अथवा-अविकल्पभावस्य विशेषः (?) अविकल्पभावं-विकल्परहितभावं, आक्रामन्-स्वीकुर्वन्, पुनः किंभूतः? विज्ञानैकरसः-विज्ञानस्य-विशिष्टबोधस्य, एकरसः, यः सः, पुमान्-आत्मा, भगवान्-ज्ञानी, पुण्यः प्रशस्तः, पवित्रो वा पुराणः-चिरंतनकालीनः-पुरातन इत्यर्थः, अयं-आत्मा, ज्ञानं-बोधः, ज्ञानव्यतिरेकेण तस्यानुपलभ्यमानत्वात्, अपि- पुनः, अयं, दर्शनं-सत्तालोचनमात्रं, सम्यक्त्वं वा आत्मैव, अथवा किं बहुना? विकल्पेन किं साध्यं? न किमपि, यत्किंचन चारित्रं सौख्यं किंचित् एकोपि-अद्वितीय आत्मव-आत्मव्यतिरेकेण तेषामनुपलभ्यमानत्वात् आत्मस्वरूपत्वाच्च स्वरूपस्वरूपिणोरेकत्वात् ॥ ४८ ॥ अथात्मनो गतानुगततां साधयति—

अर्थ–जो नयनिका पक्षविना निर्विकल्पभावकूं प्राप्त होता, निश्चल जैसें होय तैसें समय कहिये आगम अथवा आत्मा, ताका सार है सो शोभै है। सो कैसा है? जे निश्चितपुरुष हैं तिनिकरि स्वयं आस्वाद्यमान है, तिनिनैं अनुभवतें जाणि लीया है॥ सोही यह भगवान् विज्ञानही एकरस जाका ऐसा है, सो पवित्र पुराणपुरुष है, याकूं ज्ञान कहो अथवा दर्शन कहो अथवा किछू और नामकरि कहो जो कछू है सो यह एकही है, नाना नामं कहावै है॥ अब कहै हैं, जो यह आत्मा ज्ञानतें च्युत भया था सो ज्ञानहीसूं आय मिलै है—

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हर-
न्नात्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत्॥ ४९॥

सं० टी०—तदेकरसिनां-तस्मिन्-, आत्मनि- एकः-अद्वितीयः, रसः, येषां तेषां योगिनां, अयं-प्रसिद्धः, आत्मा-चिद्रूपः, आत्मन्येव-स्वस्वरूप एव गमनागमनतां, आयाति-प्राप्नोति, सदा-निरंतरं, आत्मानं स्वस्वरूपं, आहरन्-स्वीकुर्वन्, किंभूतः? विज्ञानैकरसः-विशिष्टबोधैकरसास्वादकः, निजौघात्-विज्ञानैकरससमूहात्, च्युतः-परिच्युतः सन् भूरीत्यादिः-भूरिविकल्पानां जालं-समूहस्तदेव गहनं-घनं, अवगाहयितुमशक्यत्वात् तस्मिन्, दूरं-आत्मस्वरूपादनिकटं यथा भवति तथा भ्राम्यन्-भ्रमणं कुर्वन्, दूरादेव-स्वस्वरूपादसमीपत एव, बलात्-हठात्, बहिर्द्रव्यममत्यादिपरित्यागरूपात्, निजौघं-विज्ञानैकरससमूहं, नीतः-

य: करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलं ।
य: करोति नहि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥ ५१ ॥

सं० टी०—यः-पुद्गलः करोति-द्रव्यभावनोकर्म विदधाति स पुद्गलः केवलं-परं, करोति कर्मादि सृजत्येव । तु-पुनः, यः-आत्मा-वेत्ति स्वपरस्वरूपं परिच्छिनत्ति, सः-आत्मा, केवलं-परं, वेत्त्येव-जानात्येव तु शब्दः पयार्थे । ननु यत्प्रधानं महदादि करोति तदेव वेत्ति नत्यात्मा-

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्ततश्च गणः षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंच भूतानि ॥

इति वचनात्, एकस्यैव कर्तृत्ववेतृत्वोपपत्तेः, नत्वात्मनः किंचिदुपपन्नं तस्य सकलजगत्साक्षिकत्वात् ? इति चेतन्न तस्याचेतनत्वान्मृदादिवत् अन्यथा पुमान्निष्फलः स्यात् चेतनेतरस्वभावत्वे तस्य चेतनेतरत्वविभागानुपपत्तिः, अत आत्मनश्चेतनत्वं तस्याचेतनत्वं हीति यस्मात् कारणात् । यः-पुद्गलः, करोति कर्मादिकं, सः-पुद्गलः, क्वचित्-कदाचित् न वेत्ति-न जानाति तस्य सर्वथाऽचेतनत्वात् । तु-पुनः, यः-आत्मा वेत्ति सः-आत्मा क्वचिद्देशे कस्मिंश्चित्काले न करोति कर्मादि, तस्य कर्माकर्तृकत्वात् ॥ ५१ ॥ अथ ज्ञप्तिकरोत्योर्भिन्नत्वमुद्भासते—

अर्थ—जो करै है, सो केवल करैही है। बहुरि जो जानै है, सो केवल जानैही है। बहुरि जो करै है, सो कछूही नाही जानै है। अर जो जानै है, सो कछूही नाहीं करै है ॥ भावार्थ—कर्ता है सो ज्ञाता नाहीं, अर ज्ञाता है सो कर्ता नाहीं ॥ अब कहै हैं, ऐसेही करनेरूपक्रिया अर जाननेरूपक्रिया दोऊ भिन्न हैं—

विशेष—पुद्गल कर्ता है वह कुछ जानता नहीं। आत्मा जानता है वह कुछ करता नहीं इसलिये कर्ता पुद्गल कर्ता ही है और ज्ञाता आत्मा ज्ञाता ही है। संस्कृतटीकानुसार यह इसका तात्पर्य है और इस श्लोकका उल्लेख खासकर खंडनार्थ किया है ॥ ५१ ॥

ज्ञप्तिः करोतौ नहि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥ ५२ ॥

सं० टी०—हीति-स्फुटं, करोतौ-कर्तृक्रियायां सत्यां, अंतः-मध्ये, ज्ञप्तिः-ज्ञातृता, न भासते-न प्रतिभासते, च-पुनः, ज्ञप्तौ-ज्ञातृतायां प्रतिभासमानायां अंतः-अभ्यंतरे, करोतिः-आत्मनः कर्तृस्वभावः, न भासते-न चकास्ति, ततः कारणात् परस्परपरिहा-

[illegible], [illegible] कर्तेति कर्म ? तथा कर्ता पुद्गलः कर्ता कर्मणां [illegible] पुद्गलः कर्मणां कर्ता अकुण्ठ ज्ञानज्योतिरभ्युदितं ज्ञानं तथा-तथा [illegible] । अपि पुनः कर्म अज्ञानादभ्युदितं स्वरूपेण तेन निश्च- [illegible] प्रकाशं याति स्फटिकम्, न पुनः यथा तेन प्रकाशेन ज्ञानं कर्म कर्तुं- [illegible], अपि च [illegible] पुद्गलः पुद्गलत्वमत्युः पुद्गल एव भवति न कर्मत्वेन परिणमति ॥४॥

[illegible] है सो [illegible] अपनी चैतन्यशक्तीके समूहके भारतैं अत्यंत गंभीर, जाका [illegible] प्रगट भया। जैसैं अज्ञानविषैं आत्मा कर्ता था, सो तौ अब कर्ता न होय अर [illegible] पुद्गल कर्मरूप होय था सो अब कर्मरूप न होय, बहुरि जैसैं ज्ञान तो ज्ञानरूपही होय अर पुद्गल है सो पुद्गलरूपही रहै, ऐसैं प्रगट भया। भावार्थ—आत्मा ज्ञानी होय तब ज्ञान तौ ज्ञानरूप ही परिणमै, पुद्गलकर्मका कर्ता न होय, बहुरि पुद्गल है सो पुद्गलरूपही रहै, कर्मरूप न परिणमै, ऐसैं आत्माकै ज्ञान यथार्थ भये दोऊ द्रव्यके परिणामके [illegible] नाहीं होय है, ऐसा सम्यग्दृष्टिकै ज्ञान होय है ॥ ऐसैं जीव अर अजीव दोऊ कर्ता कर्मके वेषकरि एक होय [illegible] प्रवेश कीया था, सो सम्यग्दृष्टिका ज्ञान यथार्थ देखनेवाला है, सो दोऊकूं न्यारे न्यारे ल- [illegible] होय [illegible], तब [illegible] रंगभूमितैं बाहर नीसरी गये। बहुरूपीका वेषका यह ही प्रवर्तन है—जो, देखनेवाला जैसैं पहिचानै नाहीं, तैसैं भेष किया करै, अर यथार्थ पहिचानि ले, तब निजरूप प्रगट करि चेष्टा न करता [illegible] ॥ ऐसैं कर्ताकर्म नामा दूसरा अधिकार पूर्ण भया ॥

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय बणै करता सो।
ताकरि बंधन आन तणूं फल ले सुख दुःख भवाश्रमवासो ॥
ज्ञान भये करता न बणै तब बंध न होय खुलै परपासो।
आतममांहि सदा सुविलास करै सिव पाय रहै निति थासो ॥

इति [illegible] व्याख्यायां द्वितीयोऽङ्कः ॥ २ ॥

ऐसे [illegible] वचनिकाविषै दूसरा कर्ताकर्मनामा अधिकार पूर्ण भया ॥ २ ॥

अथ पुण्यपापाधिकारः ॥ ३ ॥

पुण्य पाप दोऊ करम, बंधरूप दुर मानि । शुद्ध आतमा जिन लह्यो, नमूं चरन हित जानि ॥

अब टीकाकारके वचन हैं ॥ तहां कर्म एकही प्रकार है, सो दोय जो पुण्यपाप रूप तिनिकरि प्रवेश करै है । जैसें नृत्यके अखाडेमें एकही पुरुष अपने दोय रूप दिखाय नाचै, ताकूं यथार्थज्ञानी पहिचानै, तब एकही जानै । तैसें सम्यग्दृष्टीका ज्ञान यथार्थ है । सो यद्यपि कर्म एकही है, सो पुण्य पाप भेदकरि दोय प्रकाररूप करि नाचै है, ताकूं एकरूप पहिचानि ले ॥ तिस ज्ञानकी महिमारूप इस अधिकारके आदिविषैं काव्य कहै हैं–

जीयादमृतहिमांशुप्रणीतमध्यात्मविशदपद्यमिदं ।
शुभचंद्रदेवविवृतं शुभतत्त्वं कुंदकुंदपरं ॥ १ ॥

अथैकमेव द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति–

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥ १ ॥

सं० टी०–अथ-जीवाजीवयोः कर्तृकर्मत्वनिराकरणादनंतरं, अयं बोधसुधाप्लवः-ज्ञानामृतपूरः स्वयं-स्वत एव-कर्मनिरपेक्षत्वेन, उदयति-उदयं प्राप्नोति, किंभूतः ? ग्लपितेत्यादि–ग्लपितं-विनाशितं निर्भरं-निर्विशेषं भुवनं बिभर्ति-धारयतीति निर्भरं समस्तमोहाक्रांतत्वात् मोह एव रजो धूलिर्येन सः, अन्योऽपि सुधाप्लवः रेणुं ग्लपयति इत्युपमोपमेययोः साम्यं, तत्-प्रसिद्धं कर्म ऐक्यं-एकतां, उपानयन्-कुर्वन्, किंभूतं तत् शुभाशुभभेदतः पुण्यप्रकृतिः शुभायुर्नामगोत्ररूपा, पापप्रकृतिः-घातिचतुष्काशुभायुर्नामगोत्ररूपा तयोर्भेदतः प्रभेदात्, द्वितयतां-द्विरूपतां गतं-प्राप्तं शुभाशुभभेदेन द्विधापि ज्ञाने भवतः, संसारकारणत्वात् सर्वं कर्मसदृशमित्येकमिति भावः ॥ १ ॥ अथ शुभाशुभकर्मणोर्बंधत्वेनैक्यमुररीकरोति पद्यद्वयेन–

अर्थ–अब कहिये कर्ताकर्म अधिकारके अनंतर, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर सम्यग्ज्ञानरूप चंद्रमा है, सो स्वयं आपै आप उदयकूं प्राप्त होय है । कैसा है तत् कहिये सो प्रसिद्ध कर्म है सो कर्म सामान्यकरि एकही प्रकार है । सो शुभ अर अशुभके भेदतैं दोयरूपपणाकूं प्राप्त भया है, ताकूं एकपणाकूं प्राप्त करता संता, उदय होय है । भावार्थ–अज्ञान-

[illegible] हुआ कर्म [illegible] किया । बहुरि कैसा है ज्ञान ? दूरी किया है अभिमान-
[illegible] सो दूरी किया, तब यथार्थ ज्ञान भया । जैसे
[illegible] यथार्थज्ञान होय नाहीं, आवरण दूरी भये यथार्थ प्रकाशै
[illegible] करि कहै हैं—

[illegible] दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमानादन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।
[illegible] युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः शूद्रौ साक्षादपि न चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥ २ ॥

[illegible] मदिरां-सुरां, दूरात्-आरात्-त्यजति-परिहरति, कुतः ?
[illegible] सुरा न पेया ' इति यथाभिप्रायत्वात्, अन्यः कश्चिदपरदाचरणः
[illegible] नित्यं-निरंतरं, स्नाति-स्नानं करोति पानस्य का वार्ता ? अतिश-
[illegible] साक्षात्-प्रत्यक्षं, शूद्रौ अवरवर्णौ, शूद्रत्वमेतयोः, कथं ? यतः युगपत्-
[illegible] निर्गतौ-निष्क्रांतौ, अथ च अनु च पश्चादित्यर्थः, जातिभेदभ्रमेण-जातेः-
[illegible] एको द्विजः, एको वैश्यवत् शूद्रः, इत्यभिप्रायतः चरंतौ मिथ्याचारमाचरतः,
[illegible] एकं शुभं स्वर्गादिदायि अशुभमपरं नरकगत्यादिदायि, पुनः उभे बंधनहेतुके ॥ २ ॥

[illegible] युगपत् एकही काल दोय पुत्र निसरे जन्मे, तिनिमें एक तौ ब्राह्मणके घर पल्या,
[illegible] अभिमान भया जो मैं ब्राह्मण हौं, सो तिस अभिमानतैं मदिराकूं दूरीहीतैं छोडै है, स्पर्शै भी नाही
है । बहुरि दूजा शूद्रहीके घर रह्यो, सो मैं आप शूद्र हौं ऐसैं मानि तिस मदिराकरि नित्य सींच करे है, शुचि माने
है । सो [illegible] परमार्थ विचारिये तब दोऊही शूद्रीके पुत्र हैं जातैं दोऊ ही शूद्रीके उदरतैं जन्मे हैं सो साक्षात् शूद्र हैं ते
[illegible] भेदके भ्रमकरि प्रवर्तै हैं, आचरण और है । ऐसैं पुण्यपाप कर्म जानने, विभावपरिणतितैं उपजे, दोऊही बंधरूप
है, [illegible] भेदकरि दोय दीखै है, परमार्थदृष्टि करि कर्म एकही जानने ॥

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्नहि कर्मभेदः ।

तद् बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः ॥ ३ ॥

सं० टी०—हीति-स्फुटं, कर्मभेदः-शुभाशुभप्रकृत्योर्भेदो न, कुतः ? हेत्वित्यादि-हेतुः-कारणं, स्वभावः-स्वरूपं, अनुभवः-अनुभूतिः, आश्रयः, द्वंद्वः, तेषां सदाप्यभेदात्-शुभाशुभयोः केवलाज्ञानमयहेतुत्वादेकत्वं, केवलपुद्गलमयहेतुत्वात् तयोः स्वभावाभेदः शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयः इत्यनुभवाभेदः, केवलपुद्गलमयबंधमार्गाश्रितत्वात् तयोरभेदः, इतिचतुर्विधस्वभावाभेदादैक्यं, तत्-तस्मात् चतुर्भिः प्रकारैरेकत्वसंभवात् एकं कर्म, इष्टं, पूर्वाचार्यैर्मतं कथितमित्यर्थः, स्वयं-स्वतः, खलु इति निश्चितं, समस्तं शुभाशुभं कर्म बंधहेतुः-चतुर्विधबंधानां कारणं, हेतुगर्भितविशेषणमिदं, पुनः किंभूतं ? बंधमार्गाश्रितं-मोक्षबंधमार्गौ द्वौ तत्र बंधनदशासमाश्रितं ॥ ३ ॥ अथ सर्वस्यापि कर्मणो बंधहेतुत्वमुशंति—

अर्थ—हेतु स्वभाव अनुभव आश्रय इनि च्यारीनिके सदाही अभेदतैं कर्मविर्षे भेद नाहीं। तातैं बंधका मार्गकूं आश्रय करी कर्म एकही इष्ट किया है, मान्या है। जातैं शुभरूप तथा अशुभरूप दोऊही आप स्वयं निश्चयतैं बंधहीका कारण है॥

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बंधसाधनमुशंत्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥ ४ ॥

सं० टी०—यत्-यस्माद्धेतोः उशंति-वदंति,प्रतिपादयंतीत्यर्थः के ? सर्वविदः-सर्वज्ञभट्टारकाः जिनेंद्रा इत्यर्थः, किं ? सर्वमपि समस्तमपि, कर्म-शुभाशुभं कर्म, बंधसाधनं-चतुर्विधकर्मबंधनकारणं, कुतः ? अविशेषात्-शुभाशुभयोः कर्मबंधनकारणत्वाभेदात् तेन कारणेन, तत्-कर्म, सर्वमपि-समस्तमपि, शुभाशुभं प्रतिषिद्धं-निराकृतं, तर्हि किमादृतं ? ज्ञानमेव भेद बोध एव, शिवहेतुः शिवस्य-मोक्षस्य, हेतुः-कारणं,विहितं कथितं, परमागमकोविदैः ॥४॥ अथ कर्ममार्गनिराकरणे मोक्षावाप्तिं विचक्षयति—

अर्थ—सर्वज्ञदेव हैं ते, सर्वही कर्म, शुभ तथा अशुभकूं अविशेषतैं बंधका कारण कहै हैं, तिसही कारणकरि सर्वही कर्म प्रतिषेध्या है। मोक्षका कारण तौ एक ज्ञानहीकूं कह्या है॥ अब कहै हैं, जो कर्म सर्वही प्रतिषेध्या है, तौ मुनि हैं ते कौनके शरणै आश्रय लेनिपद पालैंगे ? याके निर्वाहकूं काव्य कहै हैं—

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः।

अज्ञानात्मा बंध इति कीर्तितः, हीति स्फुटं ततः-तस्मात् कारणात्, स्वं-स्वकीयं, भवनं-प्रवर्तनं, ज्ञानात्मज्ञानस्वरूपं, विहितं-प्रतिपादितं, परमार्थपंडितैः किंभूतं ? अनुभूतिः-स्वस्यानुभवनं अनुभूतिः, अजहल्लिंगवृत्तित्वात्पुल्लिंगे ॥ ६ ॥ अथ ज्ञानस्य वृत्तत्वमनुवर्ण्यते—

अर्थ–जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव है सो जब निश्चल अपने ज्ञानस्वरूप होता सोहै है, सोही यह मोक्षका कारण है। जातैं आप स्वयमेव ही मोक्षस्वरूप है । बहुरि या सिवाय अन्य है सो बंधका कारण है ।. जातैं सो आप स्वयमेव बंधस्वरूप है, तातैं ज्ञानस्वरूप अपना होना सोही अनुभूति है, ऐसैं निश्चयतैं बंधमोक्षका हेतूका विधान किया है–

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ ७ ॥

सं० टी०—सदा-निरंतरं, वृत्तं चारित्रं, ज्ञानस्वभावेन-रागादिपरिहरणलक्षणबोधस्वरूपेण, ज्ञानस्य-भेदबोधस्य, आत्मनो वा भवनं-प्रवर्तनं, अवस्थानं वा, स्वात्मनि स्थितिः-आत्मनि चारित्रमिति वचनात् । ननु ज्ञानचारित्रयोरेकत्वं कथं तयोः परस्परं भिन्नत्वात् ? इति चेत्सत्यं एकद्रव्यस्वभावत्वात्-एकद्रव्यं-आत्मद्रव्यं, ज्ञानचारित्रयोस्तस्य स्वभावत्वात् ज्ञानभवनतत्स्वभावेन भवनात्, ज्ञानपूर्वकत्वाच्च तस्य, तत्-तस्माद्धेतोः, तदेव-निश्चयचारित्रमेव नान्यत् मोक्षहेतुः-मोक्षकारणं ॥ ७ ॥ अथान्याभिमतक्रियाकांडस्य वृत्तत्वं निरुणद्धि—

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं नहि ।
द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ ८ ॥

सं० टी०—कर्मस्वभावेन-व्रततपःप्रभृतिकर्म- क्रियाकांडं तत्स्वभावेन वृत्तं-चारित्रं ज्ञानस्य-बोधस्य, भवनं-प्रवर्तनं, अनुचरणं न भवेत् ज्ञानभवनस्याभवनात्, कुतः ? द्रव्यांतरस्वभावत्वात् द्रव्यांतरस्य-आत्मद्रव्यादन्यद्रव्यस्य स्वभावः-स्वरूपं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् तत् क्रियाकांडं कर्म-आचरणं, मोक्षहेतुः, मोक्षस्य हेतुः-कारणं न भवेत् ॥ ८ ॥ अथ क्रियाकांडस्य मोक्षहेतुत्वं कुतो नेति जंजल्प्यते—

अर्थ–जो ज्ञानस्वभावकरि वर्तना ज्ञानका होना है सो ही मोक्षका कारण है । जातै ज्ञानकै एक आत्मद्रव्यका

हवान हैं ते सर्वलोकके उपरि तरै हैं ॥ भावार्थ-इहां सर्वथा एकांत अभिप्रायका निषेध कीया है, जातैं एकांतका अभिप्राय है, सोही मिथ्यादृष्टि है। तहां जे परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्माकूं तौ नाही जानै हैं अर व्यवहार-दर्शनज्ञानचारित्ररूप क्रियाकांडके आडंबरहीकूं मोक्षका कारण जाणि, तिसहीविषैं तत्पर रहै हैं, ताका पक्षपात करै हैं यह कर्मनय है याके पक्षपाती ज्ञानकूं तौ जानै नाही अर इस कर्मनयहीविषैं खेदखिन्न हैं ते संसारसमुद्रमें डूबै हैं ॥ बहुरि जे परमार्थभूत आत्मस्वरूपकूं यथार्थ तो जान्या नाही अर मिथ्यादृष्टि सर्वथा एकांतिनिके उपदेशकरि तथा स्वयमेवही किछू अंतरंगविषैं ज्ञानका स्वरूप मिथ्या कल्पि तिसविषैं पक्षपात करै हैं अर व्यवहारदर्शनज्ञानचारित्रका क्रियाकांडकूं निरर्थक जानि छोडै हैं, ज्ञाननयके पक्षपाती हैं ते भी संसारसमुद्रमें डूबै हैं। जातैं बाह्यक्रियाकांडकूं छोडि स्वेच्छाचारी रहै हैं स्वरूपविषैं मंद उद्यमी रहै हैं तातैं जे पक्षपातका अभिप्राय छोडि निरंतर ज्ञानस्वरूप होतैं कर्मकांडकूं छोडै हैं, अर निरंतर ज्ञानस्वरूपविषैं 'जेतैं न थाम्या जाय तेतैं' अशुभकर्मकूं छोडि स्वरूपका साधनरूप शुभकर्मकांडविषै प्रवर्तै हैं ते कर्मका नाश करि, संसारतैं निवृत्त होय हैं, ते सर्व लोकके उपरि वर्तै हैं, ऐसा जानना ॥ आगै इस पुण्यपापाधिकारकूं संपूर्णकरि अर ज्ञानकी महिमा करै हैं—

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं, मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि, ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृंभे भरेण ॥१३॥

सं॰ टी॰-भरेण-अतिशयेन, ज्ञानज्योतिः समस्ताखंडज्ञानज्योतिः प्रोज्जजृंभे रूपकालंकारोयं। पुनः हेलोन्मीलत्-हेलया-लीलया, उन्मीलत्-उत्प्रकटयत्, पुनः आरब्धकेलि-आरब्धा-प्रारंभविषयीकृता केलिः-क्रीडा येन तत्, सार्धं-समं, कया ? परमकलया-परमा-उत्कृष्टा सा चासौ कला च दर्शनाद्यंशः, मुक्तिकला वा तया, किं कृत्वा ? बलेन-हठात्कारेण, ध्यानलक्षणेन, सकलमपि-समस्तमपि, प्रकृत्यादिचतुःस्वभावमपि, तत्-प्रसिद्धं कर्म ज्ञानावरणादिप्रकृतिः, मूलोन्मूलं-मूलेन बुध्नेन, उन्मूलं-मूलतलनाशं कृत्वा, किंभूतं ? भेदोन्मादं भेदेन पुण्यपापविशेषेण, उन्मादं-उन्मत्तं पुनः पीतमोहं-पीतः-पानविषयीकृतः मोहः-मोहनीयं कर्म येन पुरुषेण तं प्राणिनं नाटयत्-भवरंगावनौ मनुष्यतिर्यगादिविशेषेण नृत्यं कारयत्, कुतः ? भ्रमरसभरात्-ममेदं, अहमस्येत्यादि भ्रांतिरसवेगात्। अन्योऽपि नटः भ्रमणादिरसाद्परं नाटयति इत्युक्तिलेशः ॥ १३ ॥

अर्थ-ज्ञानज्योति है सो अतिशयकरि उदयकूं प्राप्त होता भया सर्वत्र फैल्या। कैसा है ? लीलामात्रकरि उपडी जो

[illegible] केवलज्ञान, [illegible] आत्मा है ऐसा जानें, इहां भावार्थ ऐसा, जो जैसैं सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ [illegible] केवलज्ञान, निश्चयदिष्ट शुद्धनयके बलतैं परोक्ष क्रीडा करै है बहुरि केवलज्ञान उ-[illegible] ऐसा है [illegible] निरा है ऐसी क्रिया है अज्ञानरूप अंधकार जानें । सो यह ऐसा ज्ञा-[illegible] है । कैसैं है, शुभ अशुभरूप समस्तकर्म, ताकूं अपना बल जो वीर्यशक्ति, ताकरि [illegible] । कैसा है यह कर्म ? ऐसा है मोह जाके । ताहीतैं भ्रमके रसके भारतैं शुभ अशुभ-[illegible] । भावार्थ- ज्ञानज्योति है सो जाका प्रतिबंधक कर्म था सो भेदरूप होय नृत्य [illegible] अपनी शक्तिकरि विनाडि आप अपना संपूर्ण रूपसहित प्रकाशरूप भया । इहां [illegible] कर्म सामान्यकरि एकही है, तथापि शुभ अशुभ दोय भेदरूप स्वांग करि रंगभूमिमैं प्रवेश कीया [illegible] जान लिया, तब कर्म रंगभूमीतैं निकसी गया, ज्ञान अपनी शक्तिकरि यथार्थप्रकाशरूप भया, ऐसैं [illegible] ऐसैं कर्म है सो नृत्यके अखाडेमैं पुण्यपापरूपकरि दोय नृत्यकारिणी बनी नाचे था, सो ज्ञान [illegible] जानि लिया जो, कर्म एकही है, तब एकरूपकरि निकसि गया, नृत्य करता रह गया ॥

आस्रव कारन रूप सवादसु भेद विचारि गिने दोऊ न्यारे ।
पुन्य रु पाप शुभाशुभभावनि बंध भये सुखदुःखकरारे ॥
ज्ञान भये दोऊ एक लखे बुध आस्रव आदि समान विचारे ।
बंधके कारन हैं दोउरूप इन्हैं तजि श्रीजिन मोक्ष पधारे ॥ १ ॥

इति श्रीसमयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पुण्यपापैकत्वनिरूपकस्तृतीयोंकः ॥ ३ ॥

ऐसैं इस [illegible]नामा टीकाकी वचनिकाविषै तीसरा पुण्यपाप नामा अधिकार पूर्ण भया ॥ ३ ॥

आस्रवाऽधिकारः ॥ ४ ॥

शुभचंद्रामृतचंद्रो मिनत्ति यत्तामसं सुतस्थेषु।
पुण्येतरेषु च तद्धि न मिद्यते दीपचंद्रार्कैः ॥

शुभं-प्रशस्तं पुण्यादि चंद्रयति-आह्लादयति इति शुभचंद्रः स चासौ अमृतचंद्रश्च इति व्याख्यानं विधेयं।

अथास्रवमाश्रयति—

दोहा—द्रव्यास्रवतैं भिन्न है, भावास्रव करि नास।
भये सिद्ध परमातमा, नमूं तिनहि सुखआस ॥

अब इहां आस्रव प्रवेश करै है ॥ जैसैं नृत्यके अखाडेमैं नाचनेवाला स्वांग करी प्रवेश करै, तैसैं इहां आस्रवका स्वांग है। तहां इस स्वांगकूं यथार्थ जाननेवाला सम्यग्ज्ञान है। ताकी महिमारूप मंगल करै हैं—

अथ महामदनिर्झरमंथरं, समररंगपरागतमास्रवं।
अयमुदारगभीरमहोदयो, जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥ १ ॥

सं॰ टी॰–अथ पुण्यपापतत्त्वकथनादनंतरं, अयं-प्रसिद्धः दुर्जयबोधधनुर्धरः-दुःखेन जीयते इति दुर्जयः स चासौ बोधश्च ज्ञानं स एव धनुर्धरः-धानुष्कः, जयति, कं? आस्रवं, आस्रवति कर्म येन स आस्रवस्तं निराकरोतीत्यर्थः, किंभूतः? उदारेत्यादिः-उदारः-उत्कटः स चासौ गभीरश्च-अलब्धमध्यः, महानुदयो यस्य सः, किंभूतं तं? महेत्यादिः महांश्चासौ मदश्च-अहंकारस्तस्य निर्झरः-अतिशयः, तेन मंथरः-मेदुरः तं, पुनः कीदृशं? समरेत्यादिः-समरः संग्रामस्तस्य रंगः-अंगणं, तत्र आगतः-समुपस्थितः तं, ज्ञानपरामयार्थमुद्युक्तमित्यर्थः ॥ १ ॥ अथ ज्ञाननिर्वृत्तं भावं समुत्साहयति—

अर्थ–अथ शब्द तौ मंगल तथा प्रारंभवाची है। सो इहांतैं आगे कहै हैं। जो काहूकरि जीत्या न जाय ऐसा यह अनुभवगोचरज्ञानरूप सुभट धनुषधारी है, सो आस्रव है ताहि जीतै है। कैसा है ज्ञानरूप सुभट? उदार कहिये अमर्यादरूप फैलता अर गंभीर कहिये जाका छद्मस्थ थाह न पावै ऐसा है महान् उदय जाका ॥ बहुरि आस्रव कैसा है? महान् जो मद ताकरि अतिशयकरि भरया मंथर है उन्मत्त है। बहुरि कैसा? समररंग कहिये संग्रामभूमि ता-

दीनां, अभावं प्रपन्नः-प्राप्तः, यावत्पर्यंतं रागद्वेषास्तावन्न ज्ञायकत्वं अतः ज्ञायकत्वे सति रागद्वेषलक्षणभावास्रवाभावः, पुनस्तत एव- स्वभावत एव, द्रव्यास्रवेभ्यः-मिथ्यात्वादिभ्यो भिन्नः पृथग्भूतः, ये पूर्वमज्ञानेन मिथ्यात्वादयो द्रव्यास्रवा बद्धास्ते ज्ञानिनो द्रव्यांतरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीसमा अचेतनास्ते तु स्वतः कार्मणशरीरेणैव संबद्धा न त्वात्मना, अतः सिद्धः स्वभावतो ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावः, बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावान्निरास्रव एव ॥ ३ ॥ अथ ज्ञानिनो निरास्रवत्वं नियम्यते—

अर्थ–यह ज्ञानी है सो भावासूवके अभावकूं तौ प्राप्त भया है। बहुरि द्रव्यास्रवनितैं स्वयमेवही भिन्न है जातैं ज्ञानी है, सो सदा ज्ञानमयीही है केवल एक भाव जाका ऐसा है, यातैं निरासूवही है, एक ज्ञायकही है। भावार्थ–भावासूव जे राग द्वेष मोह, तिनिका तौ ज्ञानीकै अभाव भया। अर द्रव्यासूव हैं ते पुद्गलपरिणाम हैं, तिनतैं सदाही स्वयमेव ही भिन्न है तातैं ज्ञानी निरासूव ही है॥

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।
उच्छिंदन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भवन्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा

सं० टी०–हीति व्यक्तं, आत्मा-चिद्रूपः, यदा-यस्मिन् काले नित्यं निरास्रवः-निरंतरमास्रवभावातीतः, भवति-जायते, तदा-तस्मिन् समये, ज्ञानी सकलवस्तुपरिच्छेदकज्ञानयुक्तः स्यात्-भवेत्, ननु संसारदशायां कथं निरास्रवत्वमिति चेत्? अनिशं-नित्यं स्वयं कर्तृत्वेन समग्रं-समस्तं, रागद्वेषमोहग्रामं भावास्रवं संन्यस्यन्-त्यजन्-परिहरन्, निजबुद्धिपूर्वं-स्वबुद्धिपूर्वकं-स्वाभिप्रायपूर्वकं रागं त्यजन्नित्यर्थः, अपि-पुनः, तं-द्रव्यरूपमिथ्यात्वाद्यास्रवं, अबुद्धिपूर्वं पूर्वनिबद्धाचेतनास्रवं-स्वाभिप्रायातिरिक्तं, सूक्ष्मं-अज्ञानस्वरूपं, अकषायिणामास्रवसदृक्षं वा अबुद्धिपूर्वं, वारं वारं-पुनः पुनः, जेतुं-जयार्थं-नाशार्थमित्यर्थः, स्वशक्तिं-स्वस्य-आत्मनः शक्ति-सामर्थ्यं, स्पृशन्-स्वसात्कुर्वन्, पुनः किंकुर्वन्? उच्छिंदन्-उच्छिदन्, समूलं कर्षन्नित्यर्थः, कां? सकलां-समस्तां एव-निश्चयेन, परवृत्तिं-परेषु-आत्मव्यतिरिक्तपदार्थेषु वृत्तिः-प्रवर्तना तां, तत्रानुचरणमिति भावः, पुनः पूर्णः-परिपूर्णः समग्र इत्यर्थः, भवन्-जायमानो भावः कस्य? ज्ञानस्य वस्तुविशेषग्राहकस्य ॥ ४ ॥ अथ ज्ञानिनो द्रव्यप्रत्यये सति न निरास्रवत्वमिति पूर्वपक्षपूर्वकं पद्यद्वयेन प्रत्युत्तरयति—

अर्थ–यह आत्मा जब ज्ञानी होय है, तब अपने बुद्धिपूर्वक रागकूं तौ समस्तकूं आप दूरि करता संता निरंतर प्र-

अर्थ—ज्ञानीकै सर्वही द्रव्यास्रवकी संवतीकूं जीवतै संतै ज्ञानी नित्यही निरास्रव है, ऐसा काहेतें कया ? जो शिष्यकी ऐसी आशंकारूप बुद्धि है, ताका उत्तरका श्लोक कहै हैं—

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः समयमनुसरंतो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासादवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबंधः ॥ ६ ॥

सं० टी०–हि स्फुटं, यद्यपि ज्ञानिनः पुंसः, द्रव्यरूपाः पुद्गलकर्मरूपमिथ्यात्वादयः, पूर्वबद्धाः पूर्वं रागद्वेषादिभिः बद्धाः निबद्धाः आत्मसात्कृता इत्यर्थः, प्रत्ययाः उत्तरकर्मबंधकारणानि, सत्तां अस्तित्वं, न विजहति, न त्यजंति समयं उदयकालं, अनुसरंतः आश्रयंतः, उदयमागच्छंत इत्यर्थः, तदपि तथापि, जातु कदाचित्, कर्मबंधः कर्मणां बंधः, न अवतरति अवतारं न प्राप्नोति न भवतीत्यर्थः, कस्य ? ज्ञानिनः, कुतः ? सकलेत्यादिः सकलाः समस्तास्ते च ते रागद्वेषमोहाश्च तेषां व्युदासः परित्यागस्तस्मात् रागद्वेषमोहानां आस्रवभावानामभावे द्रव्यप्रत्ययानामबंधहेतुत्वात् कारणाभावे कार्यस्याप्यभावात् ॥ ६ ॥ अथ पुनर्बंधाभावो विभाव्यते—

अर्थ—यद्यपि पूर्वं अज्ञान अवस्थामें बंधरूप भये थे, ते द्रव्यरूप प्रत्यय कहिये द्रव्यास्रव, ते सत्तामें विद्यमान हैं । जातैं तिनिका उदय अपनी स्थितीके अनुसार है, तातैं जेतै उदयका समय नाही आवै तेतैं सत्ताहीमें रहैं, ऐसैं द्रव्यास्रव सत्तामें रहैं, ते अपनी सत्ताकूं नाहीं छोडै हैं । तौऊ ज्ञानीकै समस्त रागद्वेषमोहका अभावतैं नवीनकर्मका बंध कदाचित् ही अवतार नाही धरै है ॥ भावार्थ—रागद्वेषमोहभावविना सत्ताका द्रव्यास्रव बंधका कारण नाही है । इहां सकल रागद्वेषमोहका अभाव बुद्धिपूर्वक अपेक्षा जानना ॥

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः ।
तत एव न बंधोऽस्य ते हि बंधस्य कारणं ॥ ७ ॥

[illegible] नयाद्वेषतो, निश्चयेन, अस्य ज्ञानिनः मुनेः, बंधः कर्मणां बंधः, न, कुतः ? यत् यस्मात्कारणात्, ज्ञानिनः [illegible] असंभवः न संभवः, केषां ? रागद्वेषविमोहानां रागश्च द्वेषश्च विमोहश्च रागद्वेषविमोहा- [illegible] ? हीति यस्मात् ते रागद्वेषादयः, बंधस्य कर्मबंधस्य कारणं हेतुः, हेतुत्वाभावे हेतुमद- [illegible] ॥ ७ ॥ [illegible] बंधविधुरत्वं विधीयते—

इति वा 'कृति समासे क्वचित्पूर्वनिपातः,' किंभूतं तं ? कृतेत्यादि-विचित्राः-शुभाशुभरूपास्ते च ते विकल्पाश्च तेषां जालं-समूहः, कृतं-निष्पादितं, विचित्रविकल्पजालं येन तं, कैः ? पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः-अनादिनिबद्धपूर्वमिथ्यात्वादिद्रव्यास्रवैः, ते के ? ये तु इति विशेषः, ये पुरुषाः, रागादियोगं रागद्वेषादीनां योगं-संयोगं, उपयांति-प्राप्नुवंति, पुनरेव-पूर्वज्ञानावस्थानात् पश्चादेव, शुद्धनयतः-शुद्धस्वरूपात्मनः, प्रच्युत्य-च्युत्वा, ॥ ९ ॥ अथ बंधाबंधयोस्तात्पर्यं पंकुल्यते—

अर्थ-बहुरि जे पुरुष शुद्धनयतैं छूटिकरि फेरि रागादिके योग कहिये संबंधकूं प्राप्त होय हैं, ते छोड्या है ज्ञान जिनिने ऐसे भये संते कर्मबंधकूं धारैं हैं। कैसा कर्मबंधकूं धारै हैं? पूर्वैं बंधे जे द्रव्यास्रव तिनिकरि कीया है विचित्र अनेकप्रकार विकल्पनिका जाल जानैं ॥ भावार्थ-फेरि शुद्धनयतैं चिगै तौ रागादिकके संबंधतैं द्रव्यास्रवके अनुसार अनेक भेद लिये कर्मनिकूं बांधै है । नयतैं चिगना यह जो फेरि मिथ्यात्वका उदय आय जाय तब बंध होने लगि-जाय। जातैं इहां मिथ्यात्वसंबंधी रागादिकतैं बंध होनेकी प्रधानता कही है अर उपयोगकी अपेक्षा गौण है। शुद्धोपयोगरूप रहनेका काल अल्प है । तातैं ताका छूटनेकी अपेक्षा इहां नाहीं ॥ अन्य ज्ञेयतैं ज्ञान उपयुक्त होय तौऊ मिथ्यात्वविना रागका अंश है, सो ज्ञानीके अभिप्रायपूर्वक नाहीं । तातैं अल्पबंध संसारका कारण नाहीं । अथवा उपयोगकी अपेक्षा लीजिये तब शुद्धस्वरूपतैं चिगै सम्यक्त्वतैं न छूटै। तब चारित्रमोहका रागतैं किछु बंध होय है, सो अज्ञानकी पक्षमैं नाही गिनिये, अर बंध हैही । ताकूं मेटनेकूं शुद्धनयतैं न छूटनेका अर शुद्धोपयोगमें लीन होनेका सम्यग्दृष्टि ज्ञानीकूं उपदेश है ऐसैं जानना ॥

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि ।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्त्यागाद् बंध एव हि ॥ १० ॥

सं० टी०-अत्र- बंधाबंधविचारणे-इदमेव-वक्ष्यमाणलक्षणमेव तात्पर्यं-रहस्यं, इदं किं ? हीति-यस्मात्, शुद्धनयः शुद्धात्मा-शुद्धद्रव्यार्थिको वा, न हेयः-न त्याज्यो हितार्थिभिः। बंधः-कर्मबंधः, नास्ति-न जायते, कुतः ? तदत्यागात् तस्य-शुद्धनयस्य, अत्यागः-अत्यजनं, तस्मात्, हि- पुनः, बंध एव-कर्मबंधो भवत्येव, कुतः ? तत्त्यागात्-तस्य-शुद्धनयस्य त्यागः-त्यजनं तस्मात् ॥ १० ॥ अथ शुद्धनयस्यात्यागमामनुते—

अर्थ-इहां पहले कथनविषै यह तात्पर्य है, जो शुद्धनय है सो त्यागनेयोग्य नाहीं है यह उपदेश है जातैं तिस

ज्ञानकी मरीचि कहिये व्यक्तिविशेष, तिनिकूं तत्काल समेटिकरि कर्मके पटलतें बाह्य निसरता अर संपूर्णज्ञानघनका समूहस्वरूप निश्चल जो शांतरूप मह कहिये ज्ञानमयी तेज प्रतापका पुंज, ताहि अवलोकन करै हैं ॥ भावार्थ-शुद्धनय है सो आत्माकूं ज्ञानमय तेज प्रतापका पुंज ताहि एक चैतन्यमात्र समस्तज्ञानके विशेषनिकूं गौण करि, अर समस्त-परनिमित्ततें भये भावनिकूं गौण करि, शुद्ध नित्य अभेदरूप एककूं ग्रहण करै है ॥ सो ऐसे शुद्धनयका विषयस्वरूप अपना आत्माकूं जे अनुभवै हैं एकाग्र होय तिष्ठै हैं, ते समस्त कर्मका समूहतें न्यारा संपूर्ण ज्ञान जो केवलज्ञानस्वरूप अमूर्तिक पुरुषाकार वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप अपना आत्मा, ताहि अवलोकन करै हैं ॥ या शुद्धनयके विर्षे अंतर्मुहूर्त तिष्ठै शुक्लध्यानकी प्रवृत्ति होयकरि केवलज्ञान उपजै है, ऐसा याका माहात्म्य है ॥ सो याकूं अवलंबन करि फेरि जेते केवलज्ञान न उपजै तेतैं यातें चिगना नाहीं, ऐसा श्रीगुरुनिका उपदेश है ॥ ऐसैं आस्रवका अधिकार पूर्ण किया ॥ अब रंगभूमीमैं आस्रवका स्वांग प्रवेश भया था, ताकूं ज्ञान यथार्थ जाणि स्वांग दूरि कराय आप प्रगट भया, ऐसैं ज्ञानकी महिमाके अर्थरूप काव्य कहै हैं–

विशेष–पं. जयचंद्रजीने यहां मरीचिचक्रका अर्थ व्यक्तिविशेष किया है जिसका अर्थ मतिज्ञान श्रुतिज्ञान आदि पर्याय है क्योंकि जिससमय केवलज्ञान उत्पन्न होता है उससमय मतिज्ञान आदिज्ञानरूप पर्यायें संकुचित हो जाती हैं ज्ञानकी अकेली केवलज्ञानरूप पर्याय ही विद्यमान रहजाती है शुभचंद्रजीने उसका अर्थ मृगतृष्णा लिखा है ॥ ११ ॥

रागादीनां झगिति विगमात् सर्वतोप्यास्रवाणां नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोंऽतः ।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावानालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥ १२ ॥

सं॰ टी॰–एतत्-ज्ञानं-बोधः, उन्मग्नं-प्रकटितं, किमपि-अतिशायि, अनिर्वाच्यं वस्तु-वसति गुणपर्यायानिति वस्तु, कस्य अंतः-मध्ये, संपश्यतः-अवलोकयतो मुनेः, किंभूतं ? नित्योद्योतं-नित्यं प्रकाशमानं, यद्यपि लब्ध्यपर्याप्तकस्य निगोदस्य महानुभागज्ञानावरणावृतस्य नित्योद्योतत्वं न तथापि पर्यायाख्यस्य लब्ध्यक्षरापरनामधेयस्याक्षरानंतभागशक्तेः निरावरणत्वं-नित्योद्योतत्वं आत्मनोऽस्त्येव, पुनः-परमं-परा-उत्कृष्टा इंद्राद्यतिशायिनी मा ज्ञानादिलक्ष्मीर्यस्य तत्, कुतोंऽतरवलोकनं ? झगिति शीघ्रं, सर्वतोऽपि-सर्वस्वरूपेणापि, रागादीनां-रागद्वेषमोहलक्षणभावास्रवाणां प्रत्ययानां, विगमात्-अभावात्, किंभूतं ज्ञानं ? आलोकांतात्-श्रेणिघनमात्रत्रिलोकमभिव्याप्य, सर्वभावान्-समस्तपदार्थान्, प्लावयत्-सिंचयत्-परिच्छिन्ददित्यर्थः, कैः ? स्वरस-

अथ संवराधिकारः ॥ ५ ॥

दोहा— मोहरागरुप दूरि करि समिति गुप्ति व्रत पारि ।
संवरमय आतम कीयो नमूं ताहि मन धारि ॥

स जयतु जनघनसिंधुं ज्ञानामृतचंद्र एव संपुष्यत् । शुभचंद्रचंद्रिकाभः सुकुंदकुंदोज्ज्वलः श्रीमान् ॥

ओंनमः, अथ संवरं सूचयति—

आसंसारविरोधिसंवरजयैकांतावलिप्तास्रवन्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरं ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपे स्फुरत् ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृंभते॥

सं० टी०—उज्जृंभते-विलसते-प्रकाशत इत्यर्थः, किं ? चिन्मयं ज्ञानमयं ज्योतिः तेजः, किंभूतं ? संवरं-कर्मणामागंतुकानां निरोधं, संपादयत्-कुर्वत्, किंभूतं संवरं ? प्रतीत्यादिः प्रतिलब्धः-संप्राप्तः, नित्यं-निरंतरं, विजयो येन तं, कुतः ? आसंसारेत्यादिः संसरणं संसारः,-द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपः, संसारमभिव्याप्य आसंसारं कर्म विरोधयति-विनाशयति इत्येवं शीलः आसंसारविरोधी स चासौ संवरश्च कर्मनिरोधस्तस्य जय एवैकः-अद्वितीयः, अंतः-स्वभावः, तेनावलिप्तः-संयुक्तः स चासौ आस्रवश्च तस्य न्यक्कारः-तिरस्कारः-धिक्कार इत्यर्थः, तस्मात्, पुनः किंभूतं संवरं ? पररूपतः-परः-द्रव्यादिः, रागादिर्वा तस्य रूपं स्वरूपं ततः, व्यावृत्तं-निवृत्तं. तथा चोक्तमाप्तपरीक्षायां—

तेषामागमिनां भूतावद् विपक्षः संवरो मतः ॥१११॥ इति

पुनः नियमितं-कर्मनिरोधे नियमो जातो यस्य तं, किंभूतं ज्योतिः ? सम्यक्स्वरूपे-यथोक्तस्वरूपे-आत्मस्वरूपे इत्यर्थः, स्फुरत्-देदीप्यमानं पूर्वोक्तौ व्यावृत्तमित्यादिविशेषणौ द्वौ ज्योतिषो वा, पुनः उज्ज्वलं-सदावदातं, पुनः कीदृशं निजरसप्राग्भारं-स्वात्मानुभवरसेन प्राक्-पूर्वं भारः भरणं यस्य तत् ॥ १ ॥ अथ ज्ञानरागयोः स्वरूपं वेभिद्यते—

अर्थ-चैतन्यस्वरूपमय स्फुरायमान प्रकाशमान ज्योति है सो उदयरूप होय फैले है ॥ कैसा है ? अनादिसंसारतें लगाय अपना विरोधी जो संवर, ताकों जीतिकरि एकांतपणे मदकूं प्राप्त भया जो आस्रव ताका तिरस्कारतें पाया है नित्य विजय जानैं ऐसा संवरकूं निपजावता संता है ॥ बहुरि परद्रव्य तथा परद्रव्यके निमित्ततें भये भाव, तिनितें भिन्न

ज्ञान जब प्रगट होय है, तब ज्ञानका अर रागादिकका भिन्नपणाका अंतरंग अनुभवके अभ्यासतैं प्रगट होय है। तब ऐसैं जानै है, जो ज्ञानका स्वभाव तौ जाननेमात्र ही है अर ज्ञानमें रागादिककी कलुपता मलिनता आकुलतारूप संकल्प विकल्प भासै हैं, सो ए सर्व पुद्गलके विकार हैं जड हैं। ऐसा ज्ञानका अर रागादिकका भेदका आस्वाद आवै है। सो यहु भेदविज्ञान सर्व विभावभाव मेटनेकूं कारण होय है, अर आत्माकूं परमसंवरभावकूं प्राप्त करै है। तातैं सत्पुरुषनिकूं कहै हैं, जो याकूं पायकरि रागादिकतैं च्युत होय शुद्ध ज्ञानघन आत्माका आश्रय ले आनंदकूं प्राप्त होऊ ॥ अब कहै हैं जो ऐसैं यह भेदविज्ञान जिस काल ज्ञानके रागादिविकाररूप विपरीतपणाकी कणिकाकूं न प्राप्त करता अविचलित है, तिसकाल ज्ञान है सो शुद्धोपयोगस्वरूपपणाकरि ज्ञानहीरूप केवल भया संता किंचिन्मात्र भी रागद्वेष मोहभावकूं नाहीं प्राप्त होय है। तातैं यह ठहरी, जो भेदविज्ञानतैं शुद्धात्माकी प्राप्ति होय है। बहुरि शुद्धात्माकी प्राप्तीतैं राग द्वेष मोह जे आस्रवभाव तिनिका अभाव है लक्षण जाका ऐसा संवर होय है ॥

विशेष—संस्कृत टीकारको 'दधतोऽकृत्वाऽविभागं' यह पाठ मिला है इसलिये उन्होंने जडरूपको धारणकरनेवाले क्रोध आदिके और चेतनरूपको धारणकरनेवाले जीवके विभागके अभावको न करकके अर्थात् विभाग करके यह अर्थ किया है तथा ग्रंथकारको भी यहां यही अर्थ अभीष्ट है परंतु साधुपाठ-'दधतोः कृत्वा विभागं' यही है क्योंकि यहां अर्थमें खींचातानी नहिं करनी पडती श्लोकको पडते ही अर्थ हृदयपर अंकित हो जाता है। तथा उपर्युक्त अर्थके बतलानेकेलिये ग्रंथकार कभी श्लोकमें ऐसे पद भी नहिं डाल सकते ॥ २ ॥

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्मारामममात्मानमात्मा परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपेति ॥ ३ ॥

सं०टी०—यदि-यदा, अयं-प्रसिद्धः, आत्मा-चिद्रूपः, आस्ते-अवतिष्ठते, किंभूतः? ध्रुवं-निश्चितं, कथमपि-महता कष्टेन शुद्धं द्रव्यभावनोकर्मकलंकविकलं आत्मानं-स्वस्वरूपं, उपलभमानः-आसादयन्, स्वध्यानविषयीकुर्वाण इत्यर्थः, केन? बोधनेन बोध्यते-ज्ञायते अनेनेति बोधनं-ज्ञानं तेन, किंभूतेन? धारावाहिना-अनवच्छिन्नरूपत्वेन स्वर्धुनीधारेव वहतीत्येवंशीलस्तेन, तत्-तर्हि, तदा आत्मानं-चिद्रूपं शुद्धमेव-निष्कलंकमेव, अभ्युपेति-प्राप्नोति, कुतः? परपरिणतिरोधात्-परेषु अचेतनादिपदार्थेषु परिणतिः ममत्वादिलक्षणपरिणामः, तस्य विरोधः तस्मात्, किंभूतं तं? उदेत्यादिः-आत्मनः-आरामं-रमणीयं ज्ञानस्वरूपवनं या उदयत्-उदयं गच्छत् आत्मारामं यत्रासौ तं, इत्येवं संवरप्रकारः ॥ ३ ॥ अथ कर्ममोक्षं कक्षीकरोति—

द्वेषमोहरूपास्रवभावस्याभावः, तदभावे च कर्माभावः, तदभावे च नोकर्माभावः, तदभावे च संसाराभवः, इति करणात् तत् प्रसिद्धं आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानं, अतीवभाव्यं अत्यंतं भावनीयं, तत् कुतः ? यतः स आत्मोपलंभः भेदविज्ञानत एव भाव्यतः, किलेत्यागमे श्रूयते । शुद्धात्मतत्त्वस्य अमरपरमात्मस्वरूपस्य, उपलंभात् प्राप्तेः, एष प्रसिद्धः, साक्षात् प्रत्यक्षं संवरः आगंतुककर्मनिरोधः, संपद्यते जायते, ॥ ५ ॥ अथ भेदविज्ञानमाशापयति—

अर्थ—तातैं यह संवर है सो निश्चयतैं साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वका उपलंभ कहिये पावनेतैं होय है ॥ बहुरि शुद्धात्मतत्त्वका उपलंभ है, सो आत्मा अर कर्मका भेदविज्ञानतैं होय है-कर्मकूं अर आत्माकूं न्यारे जानै तब आत्माकूं अनुभवै । तातैं सो भेदविज्ञान अतिशयकरि भावनेयोग्य है ॥ फेरि कहै हैं, जो, भेदविज्ञान कहां तांई भावना ?

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमाच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥ ६ ॥

सं० टी०—यावत्पर्यंतं, ज्ञानं परमात्मबोधः, ज्ञाने स्वस्वरूपप्रतिभासके बोधे, प्रतिष्ठते स्थितिं करोति, स्वस्वरूपे स्वस्वरूपावस्थाने इत्यर्थः किंकृत्वा ? च्युत्वा त्यक्त्वा, कान् ? परान् अचेतनादिपरपदार्थान्, तावत्कालपर्यंतं इदं भेदविज्ञानं आत्मकर्मणोर्भेदकारकभावनाज्ञानं, अच्छिन्नधारया अनवच्छिन्नरूपेण, भावयेत् ध्यायेत्, लब्धे स्वरूपे स्वरूपप्राप्तिनिमित्तकस्य भेदज्ञानस्यानुपयोगात्, निष्पन्ने पटे तत्साधनस्य तुरीवेमाकुविंदादेरनुपयोगित्ववत् ॥ ६ ॥ अथ भेदज्ञानाज्ञानयोः सिद्धिं प्रति हेतुकत्वाहेतुकत्वे निर्णयति—

अर्थ—यह भेदविज्ञान है ताहि निरंतर धाराप्रवाहरूप जामैं विच्छेद न पडै ऐसैं तेतैं भावै, जेतैं ज्ञान है सो परभावनितैं छूटिकरि अपने स्वरूपज्ञानही विषैं प्रतिष्ठित होय ठहरी जाय ॥ भावार्थ—इहां ज्ञानका ज्ञानविषैं ठहरना दोय प्रकार जानना ॥ एक तौ मिथ्यात्वका अभाव होय सम्यग्ज्ञान होय, फेरि मिथ्यात्व न आवै ॥ बहुरि दूजा यह जो शुद्धोपयोगरूप होय ठहरै, ज्ञान अन्यविकाररूप न परिणमै । सो दोऊ प्रकार न बनै तेतै निरंतर भेदविज्ञानकी भावना राखनी ॥ फेरि भेदविज्ञानकी महिमा कहे हैं—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।

अर्थ-प्रथम तौ उत्कृष्ट संवर है, सो रागादिक जे आस्रव तिनिकै रोकनेतैं, अपनी धुरा जो सामर्थ्यकी हद, ताहि धारिकरि आगामी समस्तही कर्म, ताकूं मूलतैं दूरीही रोकता संता तिष्ठ्या । अब इस संवर भये पहले बंधरूप भया था जो कर्म, ताहि दग्ध करनेकूं निर्जरारूप अग्नि फैलै है, सो इस निर्जराके प्रगट होनेतैं, ज्ञानज्योति है सो आवरण रहित भया फेरि रागादिभावनिकरि मूर्छित नाही होय है, सदा निरावरण रहै ॥ भावार्थ-संवर भये पीछे नवीन कर्म वंधै नाही, अर पूर्वे बंधे थे, ते निर्जरे, तब ज्ञानका आवरण दूरि होय, तब ज्ञानका आवरण कैसा है ? सो फेरि रागादिरूप न परिणमै, सदा प्रकाशरूप रहै ॥

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते ॥ २ ॥

सं० टी०-किलेत्यागमोक्तौ, यत् कोऽपि-ज्ञानी, न बध्यते-बंधनं न प्राप्नोति, कैः ? कर्मभिः, किंभूतोऽपि ? भुंजानोऽपि-वेदयमानोऽपि, किं ? कर्म-पूर्वोपात्तं कर्म, सुख-दुःखरूपेण उदीर्णं वेदयन्नपि तत्-सामर्थ्यं-समर्थता कस्य ? ज्ञानस्यैव, वा-अथवा-विरागस्यैव । यथा विषं भुंजानोऽपि विषवैद्यो न याति मरणं तथा कर्मोदीर्यमानमपि भुंजानो न बध्यते ज्ञानी ॥२॥ अथ ज्ञानिनो विषयसेवकत्वेऽप्यसेवकत्वं सिंचयति—

अर्थ-जो कर्मकूं भोगवता संताभी कर्मकरि नाही बंधै है सो यह कोई आश्चर्यरूप सामर्थ्य ज्ञानकाही है, अथवा विरागकाही है । अज्ञानीकूं तौ आश्चर्यका उपजावनहारा है, ज्ञानी यथार्थ जानै है ॥

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥ ३ ॥

सं० टी०-तत् तस्माद्धेतोः, असौ-ज्ञानी, सेवकोऽपि-विषयं सेवयन्नपि असेवकः-विषयसेवको न भवेत् कश्चित् प्रकारेण व्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वाभावादप्राकरणिकवत्, यत्-यस्माद्धेतोः, नाश्नुते-न भुंजते, किं स्वं-स्वकीयं फलं-कर्मबंधरूपं, कः ? ना-आत्मा कस्य ? विषयसेवनस्य-सुखदुःखाद्यनुभवस्य, क सति ? विषयसेवनेऽपि, कुतः ? ज्ञानेत्यादिः-ज्ञानस्य वैभवं-सामर्थ्यं तेन उपलक्षितं विरागताया बलं-शक्तिस्तस्मात् ॥ ३ ॥ अथ सम्यग्दृष्टेः शक्तिः संयुज्यते—

पुनः समितिपरतां-समितयः-ईर्याभाषैषणाद्यः समितिस्वभावाः, तत्र परतां तत्परतां-उत्कृष्टतां वा आलंबंतां आलंबनं कुर्वंतां, किंभूतास्ते इति-उक्तप्रकारेण, उत्तानोत्पुलकवदनाः-उत्तानं-ऊर्ध्वावलोकित्वं महाहंकारत्वात्, उत्-ऊर्ध्वाः, पुलकाः-रोमांचाः, यस्य तत्, उत्तानं-उत्पुलकं, वदनं वक्त्रं येषां ते इति, किं ? स्वयं-स्वत एव-अयं-प्रत्यक्षोऽहं सम्यग्दृष्टिः-तत्त्वदर्शी, मे-मम, जातु-कदाचित्, बंधः-कर्मणां बंधः, न स्यात्-न भवेत् इत्यहंकाररूपं वाक्यं, इति ये दधति ते अद्यापि-इदानीमपि न तु पूर्वमित्यपिशब्दार्थः, सम्यक्त्वरिक्ताः-तत्त्वश्रद्धानमुक्ताः. संति-वर्तंते, कुतः ? आत्मेत्यादिः-आत्मा च अनात्मा च आत्मानात्मानौ-स्वपरद्रव्ये तयोः अवगमः-परिज्ञानं, तस्य विरहः-अभावः तस्मात्, सम्यक्त्वरिक्तत्वं कुतः ? यतः कारणात् ते पापाः पापकर्मयुक्ताः अहंकाराद्यशुभकर्ममयत्वात् ॥ ५ ॥ अथ रागिणो भ्रांतिं धीमास्यते—

अर्थ–जे पर द्रव्यके विषैं रागद्वेषमोहभावकरि तौ संयुक्त हैं अर आपकूं ऐसें मानै हैं, जो, मै सम्यग्दृष्टि हौं, मेरे कदाचित् कर्मका बंध नाही होय है, शास्त्रमें सम्यग्दृष्टिकै बंध नाही कह्या है, ऐसें मानिकरि उत्तान कहिये गर्वसहित ऊंचा किया है अर हर्षसहित उत्पुलक कहिये रोमांचरूप भया है मुख जिनिका ऐसे हैं, ते महाव्रतादि आचरण करो तथा समिति कहिये वचन विहार आहारकी क्रियाविषैं यत्नतैं प्रवर्तना, तिसकी परता कहिये उत्कृष्टता, ताकूं भी आलंबन करो, ते ऐसे प्रवर्तते भी पापी मिथ्यादृष्टि ही हैं। जातैं आत्माका अनात्माका ज्ञानतैं रहित हैं, तातैं सम्यक्त्वतैं रीते हैं, तिनिकै सम्यक्त्व नाहीं है। भावार्थ–जो आपकूं सम्यग्दृष्टि मानै अर परद्रव्यतैं रागी होय, तौ, ताकै सम्यक्त्व काहेका ? व्रतसमिति पालै तौऊ आपापरका ज्ञानविना पापीही है। अर आपकै बंध न होना मानि स्वच्छंद प्रवर्तै, तौ काहेका सम्यग्दृष्टि ? जातैं चारित्रमोहका रागतैं बंध तौ यथाख्यातचारित्र जेतैं न होय तेतैं होय ही है। सो जेतैं राग रहै तेतैं सम्यग्दृष्टि अपनी निंदा गर्हा करता ही रहै है, ज्ञान होनेमात्रतैं छूटना नाही, ज्ञान भये पीछे तिसहीमें लीनरूप शुद्धोपयोगरूप चारित्रतैं बंध न कहै है। तातैं राग छूटें बंध न होना मानि स्वच्छंद होना तो मिथ्यादृष्टिही है॥ इहां कोई पूछै व्रतसमिति तौ शुभकार्य हैं, तिनिकूं पालतैं पापी क्यों कहै ? ताका समाधान-जो, पाप सिद्धांतमें मिथ्यात्वहीकूं कह्या है, जहां तांई मिथ्यात्व रहै, तहां तांई शुभ तथा अशुभ सर्वही क्रियाकूं अध्यात्मविषैं परमार्थकरि पापही कहिये, अर व्यवहारनयकी प्रधानतामें व्यवहारी जीवनिकूं अशुभ छुडाय शुभमें लगावनेकूं कथंचित् पुण्य भी कहिये है, स्याद्वादमतविषैं विरोधनाही॥ बहुरि कोई पूछै परद्रव्यसूं राग रहै जेतैं मिथ्यादृष्टि कहै, सो या मै समझो नाही, अविरत सम्यग्दृष्टि आदिकै चारित्र मोहका उदयतै रागादिभाव होय हैं, ताकै सम्यक्त्व कैसै है ? ताका समाधान-जो इहां मिथ्यात्वसहित अनं-

भूतास्ते ! आसंसारात् पंचप्रकारसंसारमभिव्याप्य, प्रतिपदं,-पदं पदं प्रतीति प्रतिपदं, एकेंद्रियद्वीन्द्रियादिस्थाने परद्रव्यलक्षणे पदे वा नित्यमत्ताः-नित्यं मत्ताः दर्पं गता वा स्वस्वरूपानभिज्ञत्वात्, इतः-परस्थानात् एत एत पुनः पुनरागच्छत यूयं, इदं-शुद्धचिद्रूपलक्षणं इदमेव नान्यत् इति निर्धारणार्थं वीप्सा, पदं-स्थानं ज्ञानिनां स्थितियोग्यत्वात्, अथवा इदमिदं एकपदं, अस्य चिद्रूपस्य इदं इदमिदं पदं, इत-आगच्छत,यत्र पदे चैतन्यधातुः चेतनालक्षणो धातुः स्थायिभावत्वं-स्थैर्यं, एति-प्राप्नोति, कुतः ? स्वरसभरतः स्वानुभयातिशयात्, किंभूतः ? शुद्धः-निर्मलः, पुनः किंभूतः ? शुद्धः-परद्रव्यादतीवनिर्मलः, प्रथमशुद्धपदेन इतरद्रव्येभ्यः शुद्धत्वमावेदितं, द्वितीयशुद्धपदेन स्वसंसारिद्रव्याच्छुद्धत्वं चावेदितं ॥ ६ ॥ अथ तत्पदास्वादनं स्वदते—

अर्थ-संसारी भव्यप्राणीकं श्रीगुरु संबोधे हैं-जो हे अंधे प्राणी हो, ए रागी पुरुष हैं, ते अनादिसंसारतैं लगाय जिस पदविषैं सूतें हैं-निद्रामें मग्न हैं, तिस पदकूं तुम अपद जानो, यह तुमारा ठिकाना नाही । इहां दोय वारंवार कहनेतैं अतिकरुणाभाव सूचै है ॥ फेरि कहै हैं-जो तुमारा ठिकाना यह है यह है । जहां चैतन्यधातु शुद्ध है शुद्ध है । अपने स्वाभाविक रसके समूहतैं स्थायीभावपणाकूं प्राप्त है । इहां दोय शुद्धपद हैं, सो द्रव्य अर भाव दोऊकी शुद्धताके अर्थि हैं सो सर्व अन्यद्रव्यनितैं न्यारा, सो तौ द्रव्यशुद्धता है । अर परनिमित्ततैं भये अपने भाव तिनितैं रहित भाव शुद्ध कहिये सो इतः कहिये इस तरफ आवो-इहां निवास करौ । भावार्थ-प्राणी अनादिसंसारतैं लगाय रागादिककूं भला जाणि, तिनिहीकूं अपना स्वभाव मानि, तिनिहीविषैं निश्चित तिष्ठै हैं-सोवै हैं । तिनिकूं श्रीगुरु दयालु होय संबोधै हैं-जगावै हैं-सावधान करै हैं जो, हे अंधे प्राणी हौ, तुम जिस पदविषैं सोवो हो, सो तुमारा पद नाही है, तुमारा पद तौ चैतन्यस्वरूपमय है, तिसकूं प्राप्त होऊ, ऐसैं सावधान करै हैं जैसैं कोई महंत पुरुष मद पीयकरि मलिन जायगां सोता होय ताकूं कोईक आय जगावै कहै है-तेरी जायगा तो सुवर्णमय धातुकी अतिदृढ शुद्ध सुवर्णतैं रची अर बाधक जोडाकरि रहित शुद्ध करी ऐसी है । सो हम बतावै हैं, तहां आव, तहां शयनादि करि आनंदरूप होऊ । तैसैं इहां भी श्रीगुरु उपदेश करि सावधान किया है, जो बाह्य तौ अन्यद्रव्यनिका मिलाप नाहीं, अतरंग विकार नाहीं ऐसा शुद्ध चैतन्यरूप अपना भावका आश्रय करौ । दोय वार कहनेकरि अतिकरुणा अनुराग सूचै है ॥

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदं ।

समस्तज्ञानकूं एक भावकूं प्राप्त करै है। कैसा भया संता? सो कहै हैं, एक ज्ञायकमात्र भावकरि भरया जो ज्ञानका महास्वाद ताकूं लेता संता है। बहुरि कैसा है? द्वंद्वमय जो वर्णादिक रागादिक तथा क्षायोपशमरूपज्ञानके भेदरूप स्वाद, ताही करनेकूं लेनेकूं असमर्थ है ज्ञानहीमें एकाग्र होय तब दूजा स्वाद नाही आवै। बहुरि कैसा है? अपनी जो वस्तूकी प्रवृत्ति ताही जानता है, आस्वादै है। जातैं कैसा है? आत्माका जो अनुभव, आस्वाद, ताके प्रभावकरि विवश है, तिसही स्वादके आधीन है-तहांतैं चिगनेकूं असमर्थ है। अद्वितीय स्वाद लेता बाहरी काहेकूं आवै? भावार्थ-इस एक स्वरूपज्ञानके रसीले स्वादके आगैं अन्यरस फीके हैं। अर भेदभाव सब मिटि जाय हैं। ज्ञानके विशेष ज्ञेयके निमित्तैं हैं सो जब ज्ञानसामान्यका स्वाद ले तब सर्वज्ञानके भेद भी गौण होय जाय हैं। एकज्ञानही ज्ञेयरूप होय है॥ इहां कोई पूछै, छद्मस्थकै पूर्णरूप केवलज्ञानका स्वाद कैसैं आवै? ताका उत्तर तौ पूर्वैं कथन शुद्धनयका किया तहां ही भया। जो शुद्धनय आत्माका शुद्ध पूर्णरूप जनावै है, सो इस नयके द्वारे पूर्णरूप केवलज्ञानका परोक्ष स्वाद आवै है ऐसैं जानना॥

विशेष-संस्कृत टीकाकारने 'स्वां वस्तुवृत्तिं' का अर्थ 'अपनी निज चारित्रवृत्तिको' किया है और स्वावस्तुवृत्तिं' का 'अपनेमें परपदार्थ क्रोध आदिकी विद्यमानताको' यह अर्थ किया है।

अच्छाच्छा स्वयमुच्छलंति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो-
निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः॥ ९॥

सं० टी०—वल्गति-उल्लसति, कः? स एषः, चैतन्यरत्नाकरः-चैतन्यमेव रत्नं-मणिः तस्य आकरः- स्थानं आत्मा पक्षे समुद्रः, काभिः? उत्कलिकाभिः-ऊर्ध्वांशैः-ज्ञानलक्षणैः, पानीयलक्षणैर्वा संवेदनशक्तिभिः, अन्यत्र ऊर्मिभिरित्यर्थः, किंभूतः? अद्भुतनिधिः-अद्भुताः, आश्चर्यदाः, निधयः ज्ञानादिरूपा या यत्र सः, पुनः-अभिन्नरसः-अभिन्नः भेत्तुमशक्यः, रसो यस्योभयत्र स भगवान्-भगं ज्ञानं पक्षे लक्ष्मीर्विद्यते यस्य स भगवान् 'भगं श्रीज्ञानमाहात्म्यवीर्यप्रयत्नकीर्तिषु' इत्यनेकार्थः, एकोऽपि-आत्मत्वसामान्येन समुद्रत्वेन

साक्षात्-प्रत्यक्षं, इदं ज्ञानं आत्मपरिज्ञानं मोक्षः तदन्यतमस्य तथानुपलभ्यमानत्वात् किंभूतं ? निरामयपदं-निर्गतः आमयः-रोगः, उपलक्षणात् क्षुत्तृष्णाजन्मजरामरणाधिदुःशर्मास्वास्थ्योद्वेगादिर्यतो यस्मात्तत्पदं स्थानं, स्वयं स्वेन आत्मना संवेद्यमानं-स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण ज्ञायमानं ॥ १० ॥ अथ मुक्तेर्दुष्प्राप्यत्वं प्रथयति—

अर्थ-केई तो कठिन दुःखकरि करे जांय ऐसे मोक्षतें पराङ्मुख कर्म तिनिकरि स्वयमेव जिन आज्ञाविना क्लेश करो, अर केई पर कहिये मोक्षके सन्मुख कथंचित् जिनाज्ञामें कहे ऐसे महाव्रत तथा तपके भारकरि बहुतकालपर्यंत भग्न भये पीडित भये कर्मनिकरि क्लेश करो, तिनि कर्मनितें तौ मोक्ष होय नाहीं । जातें यह ज्ञान है, सो साक्षात् मोक्ष-स्वरूप है अर निरामय पद है-जामें किछू रागादिकका क्लेश नाहीं है अर आपहीकरि आप वेदनेयोग्य है सो ऐसा ज्ञान तौ ज्ञानगुणविना कोईही प्रकारके कष्टकरि पावनेकूं समर्थ न हूजिये है ॥ भावार्थ-ज्ञान है सो साक्षात् मोक्ष है, सो ज्ञानहीतें पाइये है अन्य किछू क्रियाकर्मकांडतें न पाइये है ॥

विशेष-पं० जयचंद्रजीने 'मोक्षोन्मुखैः' को 'कर्मभिः' का विशेषणकर 'मोक्षके पराङ्मुख कर्मोंसे' यह अर्थ किया है और भट्टारक शुभचंद्रजीने 'कर्मका शीत आतप आदि खुलासा अर्थकर और उसका मोक्षोन्मुखैः विशेषणकर मोक्षके सन्मुख' यह अर्थ किया है तथा जिन आज्ञाके बाह्य शीत आदि कर्म मोक्षके सन्मुख कैसे हो सकते हैं ? इसका समाधान भी यह दिया है कि शीत आदि दुःखोंके सहनसे कर्मोंकी निर्जरा होती है ।

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल ।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥ ११ ॥

सं० टी०—ननु इति वितर्के, किलेति-निश्चितं इदं पदं मोक्षलक्षणं कर्मदुरासदं कर्मणा क्रियाकांडतपश्चरणादिना दुरासदं दुष्प्राप्यं ततः-तस्मात्कारणात् जगत्-त्रिभुवनं, इदं पदं, कलयितुं-अवगाहयितुं यततां-यत्नं कुरुतां, कुतः ? निजेत्यादिः-निजबोधः-स्वात्मज्ञानं, तस्य कला-कलनं, तस्य बलं-सामर्थ्यं, तस्मात्, कुतस्तत्र यत्नं ? यत इदं पदं सहजेत्यादि-सहजबोधः-स्वस्वरूपज्ञानं, तस्य कला-कलनं-अभ्यसनं तया सुलभं-सुप्रापं ॥ ११ ॥ अथ ज्ञानिनोऽपरस्याकिंचित्करत्वं युनक्ति—

अर्थ-अहो भव्यजीव हो ! यह ज्ञानमय पद है सो कर्मकरि तौ दुष्प्राप्य है, बहुरि स्वाभाविकज्ञानकी कलाकरि सुलभ है, यह प्रगटकरि निश्चय जाणो । तातें अपने निजज्ञानकी कलाके बलतें इस ज्ञानका अभ्यास करनेकूं समस्त जगत् अभ्या-

[illegible] दूसरा ज्ञानका अन्याय करनेका उपदेश कीया है । बहुरि ज्ञानकी कला कहने [illegible] होय, जो ज्ञान है सो जिनकलास्वरूप है मतिज्ञानादिरूप है । तिस ज्ञानकी [illegible] होय सो प्रगट होय ॥

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिंतामणिरेप यस्मात् ।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥ १२ ॥

[illegible] परिग्रहेण-परवस्त्वंगीकारेण, ज्ञानी-पुरुषः, किं विधत्ते ? न किमपि, तत्र ममत्वाभावात्, [illegible] एष ज्ञानी आत्मा, सर्वेत्यादिः सर्वार्थैः सिद्धः-निष्पन्नः, आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य भावः तत्ता तया, [illegible] किंभूतः ? अचिन्त्यशक्तिः-अचिन्त्या-चिंतितुमशक्या शक्तिः-सामर्थ्यं यस्य सः, स्वयमेव-स्वरूपे- [illegible] देवः, पुनः किंभूतः ? चिदित्यादिः-चैतन्यनिर्वृत्तचिंतामणिः ॥ १२ ॥

[illegible] यह चैतन्यमात्रही है चिंतामणि जाके ऐसा ज्ञानी है । सो स्वयमेव आप देव है । कैसा है ? अचिंत्य [illegible] ऐसी है शक्ति जामें । सो ऐसा ज्ञानी सर्व प्रयोजन जाकै सिद्ध हैं । ऐसे स्वरूप भया [illegible] करि कहा करै ? किछूही करना नाहीं ॥ भावार्थ-यह ज्ञानमूर्ती आत्मा अनंतशक्तिका धारक वांछितकार्यकी [illegible] आपही देव है। तातैं सर्व प्रयोजनके सिद्धपणाकरि ज्ञानीके अन्यपरिग्रहके सेवनेकरि कहा साध्य है ? यह निश्चयनयका उपदेश जानूं ॥

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुं ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद् भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥ १३ ॥

[illegible] भूयः पुनः, अधुना इदानीं संप्रति, अयं-ज्ञानी तमेव-परिग्रहमेव, परिहर्तुं-त्यक्तुं, प्रवृत्तः-सोद्यतो बभूव, वि- [illegible] इदानीं पूर्वोक्तरूपतः, किंभूतः ? उज्झितुमनाः-उज्झितुं-त्यक्तुं, मनः-चित्तं, यस्य सः, [illegible] किंभूतं ? स्वपरयोः [illegible] अविवेकहेतुं-अविवेकस्य-अविवेचनस्य, हेतुं-कारणं, [illegible]

मेदविपदामंतरेण, समस्तमेव-चेतनाचेतनादिकं, उपधिं अपास्य परिग्रहं त्यक्त्वा, ॥१३॥ अथ ज्ञानिनामपरिग्रहत्वमुद्दिशति—

अर्थ-या प्रकार परिग्रहकूं सामान्यकरि समस्तहीकूं छोडिकरि, अब आप अर परका अविवेकका कारण अज्ञानकूं छोडनेका है मन जाका, ऐसा जो यह ज्ञानी, सो तिस परिग्रहकूं विशेषकरि न्यारा न्यारा परिहार करनेकूं फेरि प्रवर्ते है। भावार्थ-जातैं स्वपरका एकरूप जाननेका कारण अज्ञान है, ताहीतैं परद्रव्यका परिग्रहण है। तातैं ज्ञानीकै परिग्रहका त्याग करना कह्या ॥

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात नूनमेति न परिग्रहभावं ॥ १४ ॥

सं० टी०—यदि-यदा, ज्ञानिनः पुंसः, उपभोगः-कर्मोदयजनितसुखदुःखादिनोकर्माद्युपभोगः, भवति-अस्ति, कुतः ? पूर्वेत्यादिः-पूर्व-ज्ञानावस्थातः प्राग्बद्धानि-योगकषायवशादात्मसात्कृतानि तानि च तानि कर्माणि च तेषां विपाकः-उदयः, तस्मात्, तत्-तर्हि, भवतु-अस्तु, उपभोगः, अथ च उपभोगकथनादनंतरं नूनं-निश्चितं ज्ञानिन उपभोग इत्यध्याहार्यं, परिग्रहभावं-कर्मबंधनाद्युपाधिस्वभावं नैति-न प्राप्नोति, कुतः ? रागवियोगात्-रागस्य-ममत्वादिपरिणामस्य वियोगः-राहित्यं तस्मात्, कर्मोदयोपभोगस्तावत् ज्ञानिनः अतीतो न स्यात् प्रनष्टत्वात् प्रत्युत्पन्नानागतौ न स्तः, तत्र ममत्वाभावात् इति तात्पर्यं ॥१४॥ अथ विरक्तिं गृह्णाति—

अर्थ-ज्ञानीकै जो पूर्वे बंधे अपने कर्मका विपाक कहिये उदयतैं उपभोग होय है, सो होऊ। परंतु रागके वियोगतैं निश्चयतैं सो उपयोग परिग्रहभावकूं नाही प्राप्त होय है ॥ भावार्थ-पूर्वे बंधे कर्मका उदय आवै तब उपभोगसामग्री प्राप्त होय, ताकं अज्ञानमय रागभावकरि भोगवै, तब तो सो परिग्रहभावकूं प्राप्त होय सो ज्ञानीकै अज्ञानमय रागभाव नाही है। उदय आया हैं, ताकूं भोगवै है। यह जानै है-जो पूर्वे बांध्या था सो उदय आय गया, पिंड छूट्या, आगामी नाही वांछै हैं ऐसैं तिनिसूं रागरूप इच्छा नाही, तब ते परिग्रह भी नाही ॥

विशेष-संस्कृत टीकाकारने इस श्लोकका भाव यह लिखा है कि-ज्ञानीके अतीत कर्मोंका उपभोग इसलिये नहिं होता कि वे नष्ट होगये और वर्तमान एवं भविष्यत् कर्मोंका उपभोग उनमें ममत्व न होनेसे नहिं होता ॥ १४ ॥

गका लगना है, सो अंगीकार न भया संता बाहही लुठे है, वस्त्रमाहि प्रवेश नाही करै है ॥ भावार्थ-जैसे लौद फिट-कडी लगायेविना वस्त्रकै रंग चढै नाही, तैसे ज्ञानीकै रागभावविना कर्मका उदयका भोग नाही, सो परिग्रहपणाकूं नाही प्राप्त होय है ॥ फेरि कहै हैं—

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्सर्वरागरसवर्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥ १७ ॥

सं० टी०—ततः-तस्मात्कारणात्, एषः-ज्ञानी, सकलकर्मभिः-समस्तद्रव्यभावनोकर्मभिः, न लिप्यते-नोपदह्यते, आश्रयत द-स्पर्शः, कीदृशोऽपि कर्ममध्यपतितोऽपि-कर्मणां-उदयादिरूपाणां मध्ये-अंतः, पतितोऽपि अपिशब्दात्तत्रापतितस्य कथं बंधः । यथा कनकस्य कर्दममध्यगतस्य न लेपः । कुतः ? यतः-यस्मात्कारणात्, स्वरसतोऽपि-स्वभावत एव, ज्ञानवान् पुमान् सर्वेस्यादि-सर्वे च ते रागाश्च रागद्वेषमोहाः तेषां रसः, तस्य वर्जने शीलं स्वभावो यस्य सः, ईदृग्विधः स्यात्-भवेत् ॥ १७ ॥ अथ वस्तु-स्वभावं निर्णेनेक्ति—

अर्थ-जातैं ज्ञानवान् है सो अपने निजरसहीतैं सर्व रागरसकरि वार्जित स्वभाव है । तातैं कर्मके मध्य पड्या है तौऊ समस्तकर्मकरि नाही लिपै है ॥

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते ।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत् संततं
ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव ॥ १८ ॥

सं० टी०—इह-जगति, यस्य-वस्तुनः, यादृक्-यादृशः, स्वभावः-स्वरूपं अस्ति-वर्तते, हीति स्फुटं तस्य-वस्तुनः, वशतः-ज्ञानस्य नियमवशाद्वा तादृक्-तादृक्ष एव स्वभावो भवेत्-नान्यथा । हीति-यस्मात् यः-एष स्वभावः स परैः-अन्यपदार्थैः, कथंचनापि-केनापि प्रकारेण देशांतरे कालांतरे द्रव्यांतरसंयोगे, अन्यादृशः-अन्यस्वभावसदृशः, कर्तुं न शक्यते । हीति यस्मात् संततं-निरंतरं, क-

द्रव्य मेरा तौ कदाचित् भी नाहीं है, अर मैं भोगऊ हौं । तौ आचार्य कहै हैं-यह बडा खेद है, जो तेरा नाही ताकूं तू भोगवै है ! ऐसा तौ तू दुर्भुक्त है-खोटा खानेवाला है ॥ रे भाई, जो तू कहै-परद्रव्यके उपभोगतैं बंध न होय है ऐसा कह्या है, तातैं भोगऊं हौं । तहां तेरे कहा कामचार है ? भोगनेकी इच्छा है ? तू ज्ञानरूप हुवा संता अपने स्वरूपमें निवास करै तौ बंध नाही है अर भोगनेकी इच्छा करेगा, तौ तू आप अपराधी भया, तब अपने अपराधतैं नियमकरि बंधकूं प्राप्त होयगा ॥ भावार्थ-ज्ञानीकूं कर्म तौ करनाही उचित नाही है। अर जो परद्रव्य जानिकरि भी ताकूं भोगवै, तौ यह तौ योग्य नाही । परद्रव्यका भोगनेवालाकूं तौ लोकमें चोर अन्यायी कहै हैं ॥ बहुरि उपभोगतैं बंध न कह्या है, सो तौ ज्ञानी विनाइच्छा परकी वरजोरीसूं उदय आयाकूं भोगवै ताकै बंध नं कह्या है। अर आप जो इच्छाकरि भोगवैगा, तौ आप अपराधी भया, तब बंध क्यों न होयगा ? आगे फेरि इसही अर्थको दृढ करनेकूं काव्य कहै हैं—

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत् कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥

सं० टी०—किल-इत्यागमोक्तौ यत्-प्रसिद्धं कर्म, बलात्-हठात्, एव-निश्चयेन, स्वफलेन-स्वस्य-स्वकीयस्य, फलेन-सुखदुःखरूपेण, कर्तारं-पुरुषं, न योजयेत्-न संयोजयेत्-स्वफलभाजिनं न कुर्यात् इत्यर्थः, तर्हि कथं फलं प्राप्नोति ? इति स्फुटं, यत्-कर्म, कुर्वाणः-चेक्रीयमाणः सन् पुरुषः, कर्मणः-शुभाशुभप्रकृतेः, फलं-सुखदुःखरूपं, प्राप्नोति-लभते, हेतुगर्भितविशेषणमाह-फललिप्सुरेव-फलं कर्मणः सुखदुःखरूपं फलं, लिप्सुः-लब्धुं-प्राप्तुमिच्छुरेव, नान्यः, तत्-तस्माद्धेतोः ज्ञानं-ज्ञानस्वरूपं सन्-भवन् कर्मणा न बध्यते, किंभूतः सन्, अपास्तेत्यादिः-अपास्ता-निराकृता रागस्य रचना येन सः, इति स्फुटं कर्म क्रियाकांडं, ज्ञानावरणादि-वा, कुर्वाणोऽपि वा निर्मापयन्नपि अकुर्वाणस्य का कथा ? मुनिः-ज्ञानवान् यतिः, तदित्यादिः-तेषां कर्मणां फलं-अनुभागः, तस्य परित्यागे एकं-अद्वितीयं, शीलं-स्वभावो यस्य सः, रागद्वेषाभावात् ॥ २० ॥ अथ ज्ञानी न कर्म कुरुते—

अर्थ-निश्चयकरि यह जानौ-जो कर्म है सो अपने करनेवाले कर्ताकूं अपना फलकरि वरजोरीतैं तौ नाही जोडै है जो मेरा फलकूं तू भोगि । जो कर्मकूं करता संता तिस फलका इच्छुक हुवा करै है, सोही तिस कर्मका फल पावै है ॥ तातैं ज्ञानरूप हुवा संता कर्मविषै दूरी भया है रागकी रचना जाकी एसा मुनि है, सो कर्मकूं करता संता भी, कर्मकरि नाही बंधै है । जातैं कैसा है यह मुनि ? तिस कर्मके फलका परित्यागरूपही है एकस्वभाव जाका ॥ भावार्थ-कर्म तौ

अर्थ-ज्ञानी विचारै है, जो वस्तूका निजरूप है सो ही परमगुप्ति है। सो वा विषैं पर है सो कोई भी प्रवेश करनेकूं समर्थ नाही है ॥ बहुरि ज्ञान है सो पुरुषका स्वरूप है सो अकृत्रिम है, यातैं याकै अगुप्ति किछू भी नाही है तातैं तिस अगुप्तिका भय ज्ञानीकै नाही है। याहीतैं ज्ञानी निशंक भया संता निरंतर आप स्वाभाविक अपना ज्ञानभावकूं सदा अनुभवै है ॥ भावार्थ-गुप्ति नाम जामैं काहूका प्रवेश नाही ऐसा गूढ दुर्गादिकका है। तहां यह प्राणी निर्भय होय वसै ऐसा गुप्त प्रदेश न होय चौडा होय ताकूं अगुप्ति कहिये। तहां वैठे प्राणीकै भय उपजै ॥ तहां ज्ञानी ऐसा जानै है, जो वस्तूका निजस्वरूप है, तामैं परमार्थकरि दूजे वस्तूका प्रवेश नाही, यहही परमगुप्ति है। सो पुरुषका स्वरूप ज्ञान है। तामैं काहूका प्रवेश नाही। तातैं ज्ञानीकै काहेतैं भय होय? ज्ञानी अपना स्वाभाविकज्ञानस्वरूपकूं निःशंक भया संता निरंतर अनुभवै है ॥ अब मरण भयका काव्य है-

प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो-
निश्शंकः संततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ २७ ॥

सं० टी०—प्राणोच्छेदं-पंचेंद्रियमनोवचनकायोच्छ्वासायुर्लक्षणानां उच्छेदं-विनाशं, मरणं-पंचत्वं. उदाहरंति-प्रतिपादयंति पूर्वपूज्याः, आबालगोपालादयश्च, अस्यात्मनः चिद्रूपस्य, किल-निश्चितं, सत्त्वादिप्राणत्रयाहारकः किलशब्दः, ज्ञानं-बोधः प्राणाः-असवः तत्-ज्ञानं-स्वयमेव स्वरूपेणैव जातुचित् कदाचिदपि-कालत्रयेऽपि, नोच्छिद्यते-नोच्छेदं याति द्रव्यार्पणया न विनश्यतीत्यर्थः, कया शाश्वततया-नित्यत्वात् अतः कारणात् तस्य-आत्मनः, किंचन-किमपि,-मरणं-प्राणोच्छेदं न भवेत् ज्ञानलक्षणानां प्राणानामुच्छेदाभावात् ज्ञानिनः-पुंसः, तद्भीः-मरणभयं कुतः, न कुतोऽपि, शेषं पूर्ववत्॥२७॥अथाकस्मिकभयं दुंयति-

अर्थ-ज्ञानी विचारै है, जो प्राणनिका उच्छेद होना, तिसकूं मरण कहै हैं। सो आत्माका ज्ञान है सो निश्चयकरि प्राण है सो स्वयमेव शाश्वता है, यातैं याका कदाचित् भी उच्छेद नाही होय है। यातैं तिस आत्माकै मरण किछूभी नाही है सो ज्ञानीकै ऐसैं विचारतैं तिस मरणका भय काहेतैं होय? तातैं सो ज्ञानी निःशंक भया संता, निरंतर अपना स्वा-

है, ताके निमित्ततैं भय भी देखिये है। सो ज्ञानी निर्भय कैसा है? ताका समाधान-जो, भयप्रकृतिके उदयके निमित्ततैं भय उपजै है ताकी पीडा न सही जाय है जातैं अंतरायके प्रबल उदयतैं निर्बल है, तातैं तिस भयका इलाज भी करै है ॥ परंतु ऐसा भय नाहीं-जाकरि स्वरूपका ज्ञान श्रद्धानतै चिगि जाय। बहुरि भय उपजै है सो मोहकर्मकी भयनामा प्रकृतिका उदयका दोष है, ताका आप स्वामी होय, कर्ता न बनै है ज्ञाता ही है ॥ आगे कहै हैं-सम्यग्दृष्टीकै निःशंकितआदि चिन्ह हैं, ते कर्मकी निर्जरा करै हैं। शंकादिककरि कीया बंध नाहीं होय है। ताकी सूचनिकाका काव्य है-

टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नंति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बंधः पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव॥ २९ ॥

सं० टी०—यत्-यस्मात्कारणात्, इह जगति, घ्नंति-विनाशयंति, किं? समस्तं-सकलं, कर्म-मिथ्यात्वादि, कानि? लक्ष्माणि-चिह्नानि-संवेगनिर्वेदनिंदागर्होपशमभक्तिवात्सल्यानुकंपालक्षणानि-निश्शंकितादीनि वा, कस्य? सम्यग्दृष्टेः-निश्चयसम्यक्त्वधारिणः, किंभूतस्य? टंकोदित्यादिः-टंकोत्कीर्णश्चासौ स्वश्च-आत्मा, तस्य रसः-अनुभवः, तेन निचितं-युक्तं तच्च तज्ज्ञानं च तस्य सर्वस्वं-साकल्यं भजति-सेवते, इति टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाक् तस्य तत्-तस्मात्कारणात् कर्मघातनादनंतरं तस्य-ज्ञानिनः, पुनः-भूयः, अस्मिन् पूर्वोक्तस्वरूपे मनागपि-एकांशेनापि, कर्मणः बंधः-संश्लेषः, नास्ति-न विद्यते, तत् कर्म, पूर्वोपात्तं-पूर्वं-सम्यग्दृष्टेः प्राक् उपात्तं-बद्धं चानुभवतः सुखदुःखादिरूपेणानुभुंजतः, निश्चितं-नियमेन निर्जरैव-खलु निर्जरा भवत्येव कर्मणां ॥ २९ ॥ अथ सम्यग्दृष्टेरंगानि लक्षयति—

अर्थ-जातैं सम्यग्दृष्टिके निःशंकित आदि चिह्न हैं ते समस्तकर्मकूं हनै हैं-निर्जरा करै हैं। तातैं फेरि भी इसका उदय होतैं नवीन कर्मका किंचिन्मात्रभी बंध नाहीं होय है। जिस कर्मका पहलै बंध भया था, ताके उदयकूं भोगवता संताकै ताकी नियमकरि निर्जराही होय है ॥ कैसा है सम्यग्दृष्टि? टंकोत्कीर्णवत् एकस्वभावरूप जो अपना निजरस, तिसकरी परिपूर्ण भया जो ज्ञान, ताका सर्वस्वका भोगनहारा है-आस्वादक है ॥ भावार्थ-सम्यग्दृष्टि पहलै भयादिप्रकृति बांधी थी ताका उदयकूं भोगवै है, तौऊ ताके निशंकितादि गुण भवर्तै हैं, ते पूर्वकर्मकी निर्जरा करै हैं। अर शंकादिककरि कीया बंध नाहीं होय है ॥ अब निर्जरा अधिकारकूं पूर्ण कीया, सो निर्जराका स्वरूप यथार्थ जाननेवाला अर कर्मका नवीन बंध रोकि निर्जरा करनेवाला जो सम्यग्दृष्टि, ताकी महिमा कहै हैं-

नंतानुबंधीका उदयही है अर सम्यग्दृष्टीकै तिनिका उदयका अभाव है, सो चारित्रमोहके उदयतैं यद्यपि सुखगुणका घात है अर अल्प स्थिति अनुभाग लिये मिथ्यात्व अनंतानुबंधीविना तथा तिनिका लारकी अन्यप्रकृतिविना घातिकर्मकी प्रकृतितिनिका तथा अघातिकर्मकी प्रकृतितिनिका बंधभी होय है। तौऊ जैसा मिथ्यात्व अनंतानुबंधीसहित होय, तैसा होय नाही। अनंतसंसारका कारण तौ मिथ्यात्व अनंतानुबंधी है, तिनिका अभाव भये पीछे तिनिका बंध होय नाही। अर आत्मा ज्ञानी भया तब अन्यबंध की कौन गिनती करै! वृक्षकी जड कटै पीछै हरे मान रहनेका कहा अवधि? तातैं इस अध्यात्मशास्त्रविषैं तो सामान्यपणै ज्ञानी अज्ञानी होनेका प्रधान कथन है। ज्ञानी भये पीछे किछू कर्म रहै ते सहजहीमिटते जायगे॥ जैसे कोई पुरुष दरिद्री था, सो झूंपडीमैं वसै था, ताकूं भाग्य उदयकरि बडा महलकी धनसहित प्राप्ति भई। तामैं बहुतदिनका कजोडा भऱ्या था, सो या पुरुषनें आय प्रवेश किया तिसही दिनतैं यह तौ महलका धनी संपदावान् बणीगया। अब कजोडा झाडना है, सो अनुक्रमतैं अपना बलके अनुसार झाडै है। जब सब झाडि जायगा उज्ज्वल होय जायगा, तब परमानंद भोगेहीगा, ऐसा जानना॥ ऐसैं रंगभूमीमैं निर्जराका प्रवेश भया था सो अपना स्वरूप प्रगट दिखाय निकसि गया॥

सम्यकवंत महंत सदा समभाव रहै दुख संकट आये।
कर्म नवीन बंधे न तबै अर पूरव बंध झडे विन भाये॥
पूरण अंग सुदर्शनरूप धरै निति ज्ञान बढै निज पाये।
यो शिवमारग साधि निरंतर आनंदरूप निजातम थाये॥ १॥

इति श्रीसमयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां षष्ठोऽङ्कः॥ ६॥

इस प्रकार परमाध्यात्मतरंगिणीकी वचनिकाविषैं छठा निर्जरा अधिकार पूर्ण भया॥ ६॥

कैसा है बंध ? रागका उद्गार जो उगलना उदय होना सोही भयाकूं महारस, ताकरि समस्त जगतकूं ममत्त-प्रमादी-मतवाला करिकै अर रसके भावकरि भऱ्या जो वडा नृत्य, ताकरि नाचता है। ऐसा बंधकूं उडावता है॥ बहुरि आप ज्ञान कैसा है ? आनंदरूप अमृतका नित्य भोजन करनेवाला है बहुरि अपनी जाननक्रियारूप स्वाभाविक अवस्था ताकूं प्रगटरूप नचावता संता उदय होय है। बहुरि धीर है, उदारतें निश्चल है, बडा जाका विस्तार है। बहुरि अनाकुल है-जामैं किछू आकुलताका कारण नाहीं रहै है। बहुरि निरुपधि है-परिग्रहतें रहित है-किछू परद्रव्यसंबंधी ग्रहणत्याग नाही है। ऐसा ज्ञान उदयकूं प्राप्त होय है॥ भावार्थ-बंधतत्त्व रंगभूमीमैं प्रवेश करै है, ताकूं ज्ञान उडायकरि आप प्रगट होय नृत्य करैगा, ताकी महिमा या काव्यमैं प्रगट करी है। ऐसा ज्ञान अनंतस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहौ॥ आगै बंधतत्त्वका स्वरूप विचारै हैं॥ तहां प्रथम बंधका कारणकूं प्रगट कहै हैं-

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्नृणां॥ २॥

सं. टी.-नतु, जगत्-त्रिभुवनं, कर्मबहुलं-कर्मयोग्यपुद्गलैर्बहुलं,-प्रचुरं तन्न बंधकृत्-बंधं करोतीति बंधकृत् बंधकारणं न भवेत् अन्यथा सिद्धानामपि तत्प्रसंगात् तत्र कर्मपुद्गलानां अवस्थानाविशेषात्। अथ कायवाङ्मनसां कर्म बंधकृत्र चलात्मकानां कर्मणां बंधहेतुत्वाभावात् अपरथा यथाख्यातसंयतानामपि कर्मबंधप्रसंगात्। ननु वा अथवा, तत्कारणं मा भवतु नैककरणानि अनेकस्पर्शनादींद्रियाणां बंधहेतुत्वं, तन्न अन्यथा केवलिनामपि तत्प्रसंगात् तस्य तत्सद्भावात्, ननु चिदचिद्वधः-चिदचितां सचित्ताचित्तानां वस्तूनां वधः-घातः बंधकृत्, तन्न तस्य तन्निमित्तत्वाघटनात् अन्यथा समितितत्पराणामपि तत्प्रसंगात्, ननु सर्वस्य बंधनिमित्तत्वनिषेधे जगतो निर्बंधत्वमेवेति चेन्न तत्सद्भावात् तथाहि-किल इत्यागमोक्तो,एव-निश्चयेन, नृणां-प्राणिनां, केवलं परं, सः-रागयोगः, अनिर्दिष्टः, बंधहेतुः- बंधस्य कारणं, भवति-अस्ति, स कः ? यः उपयोगभूः-उपयोगस्य-ज्ञानदर्शनलक्षणस्य भूः [भिः] स्थानं, आत्मेत्यर्थः, रागादिभिः-रागद्वेषमोहैः सह ऐक्यं-एकतां, उपयाति-प्राप्नोति, स एव बंधकारणं॥२॥ अथ कर्मबहुलादीनां कर्महेतुत्वं मीमांसते—

अर्थ-कर्मबंधका करनेवाला कर्मयोग्य पुद्गलनिकरि बहुत भऱ्या जो जगत कहिये लोक, सो कारण नाही है। बहुरि चलनेस्वरूप जे काय वचन मन की क्रिया कर्मरूप योग, ते भी कारण नाही हैं। बहुरि अनेक रीतिके कारण,

पूर्वोक्त कोईही कारणतैं बंधकूं प्राप्त नाही होय है, यह निश्चल सम्यग्दृष्टि है, अहो ! देखो !! यह सम्यग्दर्शनकी अद्भुत महिमा है ॥ भावार्थ-इहां सम्यग्दृष्टीका अद्भुत माहात्म्य कह्या है । अर लोक, योग, करण, चैतन्य अचैतन्यका घात ए बंधके कारण न कहे हैं॥ तहां ऐसा मति जानू-जो, परजीवकी हिंसातैं बंध न कह्या, तातैं स्वच्छंद होय हिंसा करना इहां अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीवका घात भी होय, तातैं बंध न होय है । अर जहां बुद्धिपूर्वक जीव मारनेकै भाव होहिंगे तहां तौ अपने उपयोगतैं रागादिकका सद्भाव आवैगा, तहां हिंसातैं बंध होयहीगा ॥ जहां जीवकूं जीवावनेका अभिप्राय होय, ताकूंभी निश्चयनयमें मिथ्यात्व कहै हैं, तौ मारनेका अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों न होगा ? तातैं कथनकूं नयविभागकरि यथार्थ समझि श्रद्धान करना, सर्वथा एकांत तौ मिथ्यात्व है ॥ अब इस अर्थकूं दृढ करनेकूं व्यवहारनयकी प्रवृत्ति करानेकूं काव्य कहै हैं–

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः ।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां द्वयं नहि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥ ४ ॥

सं० टी०-तथापि-कर्मबहुलकर्मकरणादीनामबंधकत्वे, रागादीनां बंधहेतुकत्वे च सत्यपि, ज्ञानिनां-पुंसां, निरर्गलं-निरंकुशं, चरितुं-प्रवर्तयितुं, न इष्यते-न वांछ्यते, किलेति कस्मात्, सा-प्रसिद्धा, निरर्गला-निरंकुशा, व्यापृतिः-सर्वत्र कायादिव्यापारे प्रवृत्तिः, तदायतनं-तस्य-बंधस्य, आयतनं-स्थानं, एव निश्चयेन, ज्ञानिनां पुंसां, तत्-प्रसिद्धं, अकामेत्यादिः-अकामेन-अवांछया, कृतं-निष्पादितं, कर्म-क्रिया, कायवाङ्मनसां कर्म च अकारणं-बंधाहेतुकं, मतं-कथितं पूर्वाचार्यैः, हीति यस्मात् करोति क्रिया जानातिलक्षणाक्रिया एतद्द्वयं च किमु-कथं न विरुध्यते-विरोधं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४ ॥ अथ कर्तृज्ञात्रोः पृथक्त्वं विधीयते—

अर्थ-तथापि कहिये लोक आदि कारणनितैं बंध कह्या नाही अर रागादिकहीतै बंध कह्या, तोऊ ज्ञानीकूं निरर्गल कहिये मर्यादारहित स्वच्छंद प्रवर्तना योग्य न कह्या है जातैं निरर्गल प्रवर्तन है सो बंधकाही ठिकाना है, ज्ञानीनिकै विनावांछा कर्म कार्य होय है, सो बंधका कारण न कह्या है । जातैं जानै भी है अर कर्मकूं करै भी है, यह दोऊ क्रिया कहां विरोधरूप नाही है ! करना अर जानना तो निश्चयतैं विरोधरूपही हैं ॥ भावार्थ-पहली काव्यमें लोक आदि बंधके कारण न कहे तहां ऐसैं मति जानिये-जो बाह्य व्यवहारप्रवृत्ति बंधके कारणनिमैं सर्वथाही निषेधी है, जो ज्ञानीनिकै अबुद्धिपूर्वक वांछाविना प्रवृत्ति होय है तातैं बंध न कह्या है तातैं ज्ञानीनिकूं स्वच्छंद प्रवर्तना तौ न कह्या है

कुतः ? नियतं-निश्चितं, सर्वं-समस्तं, मरणजीवितदुःखसौख्यं सदैव-संसारदशायां, भवति-जायते स्वैस्वादिः स्वकीयस्वात्मोपार्जितस्य कर्मण उदयात् आयुःक्षयेण जीवानां मरणं, सत्यायुषि जीवितव्यं, आयुर्दरणाभवात् कथं तत्परेण कृतं । शुभाशुभकर्मोदयात् सुखदुःखिता जीवा भवंति तत्कर्मदानाभावात् कथं ते तादृशाः कृताः परेणेति भावः ॥ ६ ॥

अर्थ–इस लोकमें जीवनिके मरण जीवित दुःख सुख हैं ते सर्वही सदा काल नियमतें अपने अपने कर्मके उदयतें होय हैं ॥ बहुरि जो परपुरुष हैं सो परके मरण जीवित दुःख सुख करै हैं यह मानना है सो अज्ञान है ॥ फेरि इसही अर्थकूं दृढ करते संते अगिले कथनकी सूचनिकारूप काव्य कहै हैं ॥

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यं ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति ॥ ७ ॥

सं० टी०—ते-पुरुषाः, नियतं-निश्चितं, मिथ्यादृशः-मिथ्यादृष्टयः, भवंति-जायंते, किंभूताः ? आत्महनः आत्मानं हंतीति आत्महनः-स्वरूपघातकाः स्वस्वरूपाद्विपर्यस्तत्वात् पुनः कर्माणि-शुभाशुभानि, चिकीर्षवः-स्वसात्कर्तुमिच्छवः, केन ? अहंकृतिरसेन-मयायं हतो जीवितश्चेत्यादिरूपेणाहंकाररसेन, ते के ? ये-नराः, परात्-मिथ्यात्, परस्य-ततोन्यस्य, पश्यंति-ईक्षंते, किं ? जीवितदुःखसौख्यं, किं कृत्वा ? एतत्-पूर्वोक्तं, मयायं हत इत्यादिरूपमज्ञानं, अधिगम्य-प्राप्य ॥ ७ ॥ अथाध्यवसायस्य पापठ्यते—

यह पूर्वोक्त मानना अज्ञान है, ताही प्राप्त होयकरि जे पुरुष परतें परके मरण जीवित दुःख सुख होना देखै ते पुरुष "मैं इनि कर्मनिकूं करूं हूं" ऐसा अहंकाररूप रसकरि कर्मनिकूं करनेके इच्छक हैं, कर्म करनेकी वावनेकी सुखी दुःखी करनेकी वांछा करै हैं, ते नियमकरि मिथ्यादृष्टि हैं । आपहीकरि अपना घात जिनिकै ६ ऐसे हैं ॥ भावार्थ–जे परकूं मारने जीवावनेका तथा सुख दुःख करनेका अभिप्राय करै हैं, ते मिथ्यदृष्टि हैं । पना स्वरूपतें च्युत भये रागी द्वेषी मोही होय आपहीकरि आपका घात करै हैं, तातैं हिंसक हैं ॥

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोयमज्ञानात्मास्य दृश्यते ॥ ८ ॥

सं० टी०–अस्य मिथ्यादृष्टेः य एव प्रसिद्धः अध्यवसायः अहं परान् हन्मीत्यादिरूपः परिणामः स एव अध्यवसाय एव,

अर्थ–आत्मा है सो आपके रागादिकका निमित्तभावकूं कदाचित् न प्राप्त होय है, तिस आत्माविषै रागादिकका निमित्त परद्रव्यका संगही है, इहां सूर्यकांतमणिका दृष्टांत है-जैसें सूर्यकांतमणि आपही तौ अग्निरूप नाहीं परिणमै है, तिसविषै सूर्यका बिंब अग्निरूप होनेकूं निमित्त है, तैसें जानना । यह वस्तुका स्वभाव उदयकूं प्राप्त है काहूका किया नाही है ॥ आगै कहै हैं, जो ऐसा वस्तुका स्वभावकूं जानता संता ज्ञानी रागादिककूं आपके नाही करै है ऐसा सूत्रनिकाका श्लोक है–

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥ १४ ॥

सं॰ टी॰—इति-पूर्वोक्तप्रकारेण, ज्ञानी-पुमान्, स्वं-आत्मीयं, वस्तुस्वभावं-रागादिव्यतिरिक्तं स्वयवस्तुस्वरूपं, जानाति-वेत्ति येन कारणेन वेत्ति तेनैव कारणेन, सः-ज्ञानी, रागादीन्-आत्मनः-स्वस्य, न कुर्यात् स्ववसात् न करोति ? यतः, अतः कारकः कर्मणां कर्ता न भवति ॥ १४ अथात्मानं स्फूर्जति—

अर्थ–जैसें अपने वस्तुभावकूं ज्ञानी है सो जानै है, तिस कारणकरि सो ज्ञानी रागादिककूं आपके नाही करै है, तातैं रागादिकका कारक नाही है ॥

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥ १५ ॥

सं॰ टी॰—इदं पद्यं पूर्वतो विपर्यस्तं व्याख्येयं सुगमं च ॥ १५ ॥ अथ परद्रव्यमुद्धर्तुकामं समभिष्टौति—

अर्थ–अज्ञानी है सो ऐसा अपना वस्तुभावकूं नाही जानै है, तिस कारणकरि सो अज्ञानी रागादिकभावनिकूं आपकै करै है, यातैं तिनिका कारक होय है ॥

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्तन्मूलां बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समं ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१६॥

सं॰ टी॰—एषः-सः-आत्मा-चिद्रूपः कर्ता, आत्मनि-स्वस्वरूपे अधिकरणभूते:, स्फूर्जति-गर्जति-प्रकटीभवति वा, किंभूतः ?

सन्नद्धं-आरूढं, स्तुतं च साधुभिः स्तूयमानत्वाज्ज्योतिषः, पुनः रागादीनां रागद्वेषमोहानां, उदयं-प्राकट्यं अदयं-निर्दयं यथा भवति तथा, सद्य एव- तत्कालमेव, दारयत्-विदारणं कुर्वत्, अन्यदपि ज्योतिः प्रातर्जानां रागादीनां दारकमित्युक्तिलेशः, किं-कृत्वा ? अधुना-इदानीं,विविधं-प्रकृतिस्थित्यनुभागादिभेदेनानेकविधं बंधं, प्रणुद्य-निराकृत्य, किंभूतं ? कारणानां-उपादानरूप-पुद्गलानां कार्य-फलं कर्मरूपं ॥ १७ ॥

अर्थ–यह ज्ञानज्योति है सो क्षेप्या है-दूरि किया है अज्ञानरूप अंधकार जानैं सो तैसैं सम्यक्प्रकार सज्या जैसैं याका प्रसर कहिये फैलना अपर कोई आवरै नाही सो यह ऐसा पहले कहा करिकै सज्या सो कहै हैं। पहलै तो बंधके कारण जे रागादिकभाव, तिनिका उदयकूं जैसैं निर्दयी काहूकूं विदारै तैसैं तिनिकूं विदारता संता प्रगट्या, पीछैं जब कारण दूरी भये, तब तिनिका कार्य जो कर्मका ज्ञानावरण आदि अनेकप्रकार बंध, ताकूं अब तत्कालही दूरि करिकै अर सज्या है ॥ भावार्थ–ज्ञान प्रगट होय है जब रागादिक न रहै, तिनिका कार्य बंध न रहै, तब फेरि याकूं आवरणे-वाला कोई न रहै, सदाकाल प्रकाशरूप रहै ॥ ऐसैं रंगभूमिमैं बंधका स्वांग प्रवेश कीया था, सो ज्ञानज्योति प्रगट भया, तब बंध स्वांग दूरिकरि निकसि गया ॥

जो नर कोय परै रजमाहि सचिक्कण अंग लगै वह गाढै ।
त्यौं मतिहीन जु राग विरोध लिये विचरै तब बंधन बाढै ॥
पाय समै उपदेश यथारथ रागविरोध तजै निज चाटै ।
नाहि बंधै तब कर्मसमूह जु आप गहै परभाव निकारै ॥ १ ॥

विशेष–भ० शुभचंद्रजीने 'कारणानां कार्यं' इस वाक्यको 'बंधं' का विशेषण किया है एवं उपादानरूप पुद्गलोंके फलरूप बंधको यह अर्थ किया है किंतु पं. जयचंद्रजीने 'कारणानां' को 'रागादीनां' का ही विशेषण कर कारणरूप जो राग आदि यह अर्थ किया है। तथा 'साधुसन्नद्धं इस पदका अर्थ संस्कृत टीकामें साधुओंसे स्तुत यह अर्थ किया है किंतु पं० जयचंद्रजीने अच्छीतरह सजाहुआ यह अर्थ किया है ॥ १७ ॥

इति श्रीसमयसारस्थपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां सप्तमोऽङ्कः ॥ ७ ॥

इसप्रकार परमाध्यात्मतरंगिणीकी वचनिकाविषैं सातवां बंधाधिकार पूर्ण भया ॥ ७ ॥

आत्मानं मग्नमंतःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बंधं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥ २ ॥

सं० टी०—इयं-प्रसिद्धा, प्रज्ञाछेत्री-बुद्धिछेत्री, शिता-अतितीक्ष्णा, रभसात्-वेगेन, निपतति-भिन्नकरणार्थं पतनं करोति, क्व ? सूक्ष्मे-अत्यंतं प्रत्यासन्नत्वाच्चैतन्यचेतकभावेनैकीभूतत्वेन सूक्ष्मे, अंतः संधिबंधे-अंतः-अभ्यंतरे, कर्मात्मनोः संधिबंधे संधानश्लेषे, कस्य ? आत्मकर्मोभयस्य-चिद्रूपकर्मयुग्मस्य, कीदृक्षा सा ? कथमपि महताप्रयत्नेण पातिता तयोर्मध्ये भिन्नकरणकृते मुक्ता सती, कैः ? निपुणैः-धीमद्भिः, सावधानैः-प्रकामचित्तैः, अभितः-सामस्त्येन, लक्षणभेदात् भिन्नभिन्नौ परस्परं तौ द्वौ भिन्नौ भिन्नौ, कुर्वती-निर्मापयती, कं ? आत्मानं-चिद्रूपं, च पुनः, बंधं-कर्मबंधं कीदृशं-चिद्रूपं-चैतन्यपूरे समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणं, तस्य पूरः-समूहः, तत्र मग्नं-तन्मयमापन्नं, अंतरित्यादिः-अंतः-अभ्यंतरे चिद्रूपे स्थिरं-अन्यत्र गमनाभावात् तत्रैव स्थितिमत् तच्च तद्विशदं च निर्मलं, लसत्-देदीप्यमानं धाम-महो यस्य तस्मिन्, कीदृक्षं बंधं ? अज्ञानभावे-अज्ञानस्वरूपे रागादौ स्वलक्षणे, नियमितं-निश्चयीभूतं,-तन्मयत्वमापन्नमित्यर्थः । अन्यापि छेत्री द्वयोर्धात्वोः स्वलक्षणमिश्रयोः, अंतः पातिता सती भिन्नत्वं चर्करीति तथा प्रज्ञाछेत्रीति विज्ञेयं ॥ २ ॥ अथ तयोर्भेदकं प्रलपति—

अर्थ–आत्मा अर बंधकूं भिन्न करनेकूं यह प्रज्ञा है सो तीक्ष्ण छैनी है । सो जे प्रवीण पुरुष हैं ते सावधान प्रमादरहित भये संते आत्मा अर कर्म इनि दोऊंनिका सूक्ष्म जो अंतः कहिये मांहिला संधीका बंधन, ताविषैं याकूं कोई प्रकार यत्नकरि ऐसैं पटकै हैं सो यह बुद्धिरूपी छैनी तहां पडी हुई शीघ्रही समस्तपणें भिन्न भिन्न करती पडे है । सो आत्माकूं तौ अंतरंगविषैं स्थिर अर विशदलसत् कहिये स्पष्ट प्रकाशरूप देदीप्यमान है धाम कहिये तेज जाका ऐसा जो चैतन्यका पूर प्रवाह, ताविषैं मग्न करती संती पडै है । बहुरि बंधकूं अज्ञानभावविषैं निश्चल नियमतैं करती संती पडै है ॥ भावार्थ–इहां आत्मा अर बंधका भिन्न भिन्न करना नामा कार्य है । ताका कर्त्ता आत्मा है । अर करणविना कर्त्ता काहेकरि कार्य करै ? तातैं करण चाहिये । अर निश्चयनयकरि कर्त्ता तैं भिन्न करण होय नाही । तातैं आत्मातैं अभिन्न यह बुद्धि ही, इस कार्यविषैं करण है । सो आत्माकै अनादि बंध ज्ञानावरणादि कर्म हैं । तिनिका कार्य भावकर्म तौ रागादिक हैं । अर नोकर्म शरीरादिक हैं। सो बुद्धिकरि आत्माकूं शरीरतैं तथा ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मतैं तथा रागादिक भावकर्मतैं भिन्न एक चैतन्यभावमात्र अनुभव करि ज्ञानहीमैं लीन राखना, यहही भिन्न करना याहीतैं सर्व कर्मका नाश होय, सिद्धपदकूं प्राप्त होय है, ऐसैं जानना ॥

णामाः, समुल्लसंति-प्रादुर्भवंति ते-भावाः, अहं चिद्रूपः, नास्मि-न भवामि, कुतः ? यतः-यस्मात्कारणात् पृथग्लक्षणाः- आत्मनः विपरीतलक्षणाः अज्ञानस्वभावत्वात् अत्र इह स्वस्वरूपविचारणे ते-भावाः, समग्रा अपि-समस्ता अपि कषायाध्यवसायाः मम-चिद्रूपस्य, परद्रव्यं पुद्गलकर्मोपादितत्वात् अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः, शेषाः सर्वे भावाः प्रहातव्या इति सिद्धांतः ॥ ६ ॥ अथ सापराधिनो बंधं द्योतते—

अर्थ-उज्ज्वल है उत्कट है चित्तका चरित्र जिनिका ऐसे मोक्षके अर्थी पुरुष हैं, ते यह सिद्धांत सेवन करो-जो, मैं तो शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही सदा ही हौं, अर ए जे अनेक प्रकारके भिन्नलक्षणरूप भाव हैं, ते मैं नाही हौं। जातैं ते समग्र कहिये सारेही मेरे परद्रव्य हैं। भावार्थ सुगम है ॥ आगै कहै हैं, जो परद्रव्यकूं ग्रहण करै है, सो अपराधवान है, बंधमें पडै है । अर जो निजद्रव्यमें संतुष्ट है सो निरपराधी है, बंधै नाही है। ऐसी सूचिनिकाका अगिले कथनका श्लोक है—

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् वध्यते चापराधवान् ।
वध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥ ७ ॥

सं० टी०—अपराधवान्-सापराधः पुमान्, एव-निश्चयेन, वध्येत-कर्मबंधनं प्राप्नुयात्, सापराधत्वं लक्षयति-परद्रव्यग्रहं-परद्रव्याणां ममेति बुद्ध्या ग्रहं-ग्रहणं, कुर्वन्- चिंतयन्, अन्योपि परद्रव्यग्रहणं कुर्वन् बंधं प्राप्नोति पुनर्नान्य इत्युक्तिलेशः अनपराधः-परद्रव्यग्रहणलक्षणापराधरहितः, यतिः-स्वयत्नचारित्वात् योगी न वध्येत न बंधनं याति। स्वद्रव्ये चिद्रूपे संवृतः संवरणं कुर्वन् स्थितः तदपराधरहितः न याति बंधनं ॥ ७ ॥ अथ सापराधापराधयोः बंधाबंधौ विमर्शति—

अर्थ-जो परद्रव्यकूं ग्रहण करता संता है, सो तौ अपराधवान् है, सो बंधमें पडै है। बहुरि अपने ही द्रव्यविषै संवररूप है संतुष्ट है परद्रव्यकूं नाही ग्रहण करै है सो यतीश्वर अपराधरहित है, सो बंधै नाही ॥

अनवरतमनंतैर्वध्यते सापराधः स्पृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥ ८ ॥

सं० टी०-सापराधः-परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः-सिद्धिः साधनं वा राधः, अपगतो राधो यस्य चेतयितुर्भावस्य

मादकरि युक्त अलसभाव होय, सो शुद्धभाव कैसें होय ? तातें आत्मिकरसकरि भरया स्वभावविर्षे निश्चल होता संता मुनि है सो परमशुद्धताकूं प्राप्त होय है। बहुरि शीघ्रही थोरे ही कालमें कर्मबंधतें छूटै है ॥ भावार्थ-प्रमाद तौ कषायका गौरवतें होय है, सो प्रमादीकै शुद्धभाव होय नाही। जो मुनि उद्यमकरि स्वभावमें प्रवर्ते है सो शुद्ध होयकरि मोक्षकूं प्राप्त होय है ॥ आगै मुक्त होनेका अनुक्रमके अर्थरूप काव्य कहै हैं अर मोक्षका अधिकार पूर्ण करै हैं—

त्यक्त्वाशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ।
बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १२ ॥

सं॰ टी॰—किल इत्यागमोक्तौ, यः-योगी, स्वयं स्वरूपेण कृत्वा, स्वद्रव्ये-स्वात्मद्रव्ये, रतिं-रमणं, एति-गच्छति, किंकृत्वा ? तत्-प्रसिद्धं, समग्रं-निखिलं, परद्रव्यं-कर्मादिद्रव्यं त्यक्त्वा-हित्वा, किंभूतं ? अशुद्धिविधायि-रागाद्यशुद्धिकारकं, सः-मुनिः, मुच्यते कर्मबंधनात्। कीदृक्षः सन् ? नियतं-निश्चितं, सर्वेत्यादिः-पूर्वोक्तैः-समस्तापराधैः, च्युतः-रहितः सन्, किंकृत्वा ? बंधध्वंसमुपेत्य, स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः ज्योतिः-प्रकाशः तेन अच्छं-निर्मलं, उच्छलत्-उदयं गच्छत् तच्च तच्चैतन्यं च तदेवामृतपूरः सुधासमूहः, तेन पूर्णः-संपूर्णः, महिमा-माहात्म्यं यस्य सः, १२ ॥ अथ मोक्षं महते—

अर्थ—जो पुरुष, निश्चयकरि अशुद्धताका करनेवाला जो परद्रव्य, ताकूं सर्वेकूं छोडिकरि अर आप अपने निजद्रव्यविर्षे रतीकूं प्राप्त होय है-लीन होय है, सो पुरुष नियमतें सर्व अपराधतें रहित भया संता, बंधका नाशकूं प्राप्त होयकरि नित्य उदयरूप भया संता, अपना स्वरूपका प्रकाशरूप ज्योतिकरि निर्मल उछलता जो चैतन्यरूप अमृतका प्रवाह, ताकरि पूर्ण है महिमा जाकी ऐसा शुद्ध होता संता कर्मनितें छूटै है ॥ भावार्थ-पहलै समस्त परद्रव्यका त्याग करि अपना निजद्रव्य आत्मस्वरूपविर्षे लीन होय है, सो सर्व रागादिक अपराधतें रहित होय आगामि बंधका नाश करै है अर नित्य उदयरूप केवलज्ञानकूं पाय शुद्ध होय सर्व कर्मका नाश करि मोक्षकूं प्राप्त होय है, यह मोक्ष होनेका अनुक्रम है ॥ ऐसें मोक्षका अधिकार पूर्ण भया, ताके अंत मंगलरूप ज्ञानकी महिमाका कलशरूप काव्य कहै हैं—

अथ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः ॥ ९ ॥

सकलाशर्मविमुक्तं युक्तं सुज्ञानसंपदा सारं । भजते मुक्तिः वचसाऽमृतचंद्रोऽमृतमयो जंतुः (?) ॥

दोहा—सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम ॥
परकूं करै न भोगवै, जानै जपि तसु नाम ॥

इहां मोक्षतत्त्वका स्वांग निकसनेके अनंतर सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करै है ॥ रंगभूमिविषै जो जीवका, कर्ता, कर्म, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये आठ स्वांग आये तिनिका नृत्य भया । अपना अपना स्वरूप दिखाय निकसि गये । अब सर्व स्वांग दूरि भये एकाकार सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करै है । तहां प्रथम मंगलरूप ज्ञानपुंज आत्माकी महिमाका काव्य कहै हैं—

अथ सर्वविशुद्धं ज्ञानमुवेति—

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान्कर्तृभोक्त्रादिभावान् दूरीभूतः प्रतिपदमयं बंधमोक्षप्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः ॥ १ ॥

सं० टी०—अयं ज्ञानपुंजः-बोधस्यानंतसंख्यापच्छिन्नविभागशुद्धः सन् प्रतिच्छेदसमूहः, प्रतिपदं-एकेंद्रियादिस्थानं प्रथमद्वितीयादिगुणस्थानं गुणस्थानं प्रति, स्फूर्जति-गर्जति-द्योतत इत्यर्थः । किंकृत्वा ? नीत्वा-प्राप्य, कं ? सम्यक्-प्रलयं-निरशेषविनाशं, कान् ? निखिलान्-समस्तान् कर्त्रेत्यादिः-कर्ता कर्मकारकः भोक्ता- कर्मफलभोक्ता, कर्ता च भोक्ता च कर्तृभोक्तारौ तावेयादिर्येषामुत्पाद्योत्पादकादीनां ते तथोक्ताः, ते च ते भावाश्च परिणामाः तान्, किंभूतः ? दूरीभूतः, कुतः ? बंधेत्यादि-कर्मबंधमोचनयोः प्रक्लृप्तिः-कल्पना तस्याः, पुनः शुद्धः-निर्मलः, पुनः कीदृशः ? स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः, रसः अनुभवः तस्य विसरः समूहः स पवापूर्णः-संपूर्णः पुण्याचलः-प्रशस्ताचलः-उदयाचलः तत्रार्चिः-तेजः, यस्य सः, टंकेन उत्कीर्णः प्रकटः, महिमा- माहात्म्यं यस्य सः, स्वरसेत्यादिरेकपदं वा स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिश्चासौ टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा च ॥ १ ॥ अथात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वं कीर्तयति—

अर्थ—ज्ञानका पुंज आत्मा है, सो स्फुरायमान प्रगट होय है ॥ कहाकरी प्रगट होय है ? समस्तही कर्ता अर भोक्ता

तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः॥

सं० टी—अमुना प्रकारेण स्वपरिणामैकपचमानस्य जीवस्य तेन सह कारणभावाभावः सर्वद्रव्याणां द्रव्यांतरेणोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् इति प्रकारेण, अयं जीवः चिद्रूपः, अकर्ता कर्मणामकारकः सन् स्थितः सुस्थः, किंभूतः ? स्वरसतः स्वभावतः कर्मोपाधिनिरपेक्षतः विशुद्धः निर्मलः, स्फुरदित्यादिः स्फुरंति प्रकाशमानानि तानि च तानि चिज्ज्योतींषि च ज्ञानतेजांसि च तैः, छुरितेत्यादिः छुरितं प्रकाशितं, भुवनमेव विष्टपमेव, भोगमयनं परिपूर्णगृहं येन सः, तथापि आत्मनः समस्तविज्ञानमयत्वेनाकर्तृकत्वे सत्यपि, किल इति निश्चितं, इह जगति, ज्ञानावरणादिकर्मभिः, स्यात् भवेत् खलु इति निश्चितं, यत् यस्माद्धेतोः अस्य आत्मनः, असौ बंधः संश्लेषः, प्रकृतिभिः सः कोऽपि अनिर्दिष्टः, गहनः अज्ञातांतःस्वरूपः, अज्ञानस्य ज्ञानाभावस्य, महिमा माहात्म्यं, स्फुरति विजृंभते, अतिशयालंकारोयं ॥ ३ ॥ अथ भूयः कर्तृत्वभोक्तृत्वमामनति—

अर्थ—ऐसें जीव है सो अपने निजरसतें विशुद्ध है। यातैं परद्रव्यका तथा परभावनिका अकर्ता ठहरया। कैसा है जीव ? स्फुरायमान होता- फैलता जो चैतन्यज्योति, तिनिकरि व्याप्त भया है भुवन कहिये लोकका आभोग कहिये मध्य जाकरि, ऐसा है भवन कहिये होना जाका। ऐसा है तौऊ याकै इस लोकविषै प्रगट कर्मप्रकृतिनिकरि बंध होय है॥ सो यह निश्चयकरि अज्ञानका कोई ऐसा ही महिमा है, सो बडा गहन है ताका थाह न पाइये॥ भावार्थ-शुद्धनयकरि जीव परद्रव्यका कर्ता नाही अर सर्व ज्ञेयनिविषैं जाका ज्ञान व्यापनेवाला है, तौऊ याकै कर्मका बंध होय है सो यह कोई अज्ञानका बडा महिमा है.॥

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदकः॥ ४॥

सं० टी—अस्य चितः चिद्रूपस्य, भोक्तृत्वं कर्मफलभोक्तृत्वं, न स्वभावः, न स्वरूपं स्मृतः कथितः, अज्ञानादेव परात्मनोरेकत्वाध्यासकरणलक्षणादनवबोधादेव, अयं चेतयिता, भोक्ता कर्मफलानुभोजकः, तदभावात् प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात्, अवेदकः कर्मफलाननुभोजकः ॥ ४ ॥ अथ ज्ञान्यज्ञानाभिस्वरूपं सूचयति—

अर्थ—इस आत्माका कर्तास्वभाव जैसें नाही है, तैसेही भोक्तापणा भी स्वभाव नाही है, यह अज्ञानहीतैं भोक्ता होय है॥ बहुरि जब अज्ञानका अभाव होय है तब अवेदक है, भोक्ता नाही है॥

ऐसैं होतैं कर्तापणा काहेकूं होय ? आगैं व्यवहारनयके वचनकरि कहिये है, जो, परद्रव्य मेरा है सो जे व्यवहारहीकूं निश्चय मानै हैं, ते अज्ञानतैं मानै हैं, याकूं दृष्टांतपूर्वक कहै हैं–

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं संबंध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे पश्यंत्वकर्तृ मुनयश्च जनाः स्वतत्त्वं ॥ ९ ॥

सं० टी०—इह-जगति, यतः कारणात्, एकस्य वस्तुनः-चेतनस्य, अचेतनस्य वा अन्यतरेण सार्धं-सह, सकलोपि-समस्तोऽपि, संबंधः-तादात्म्यलक्षणः, गुणगुणिभावलक्षणः, लक्ष्यलक्षणभावः, वाच्यवाचकभावलक्षणः, विशेष्यविशेषणभावलक्षणः इत्यादिः संबंधो भिन्नवस्तुनोः निषिद्ध एव-प्रतिषिद्ध एव, तत् तस्मात्कारणात् वस्तुभेदे-वस्तुनोः-जीवपुद्गलयोः भेदे-पृथक्त्वे सति,कर्तृकर्मघटना-कर्तृकर्मणोः-जीवपुद्गलयोः, कर्तृत्वं कर्मत्वमिति घटना-संभावना, नास्ति च पुनः मुनयो जनाः-मुनीश्वरलक्षणा लोकाः, अकर्तृ-कर्तृत्वव्यपदेशरहितं, स्वतत्त्वं-स्वात्मस्वरूपं पश्यंतु-अवलोकयंतु ॥ ९ ॥ अथाज्ञानिस्वभावं नेनेक्ति–

अर्थ–जा कारनतैं एकवस्तुकै अन्यवस्तुकरि सहित इस लोकमैं संबंध है, सो समस्तही निषेध्या है' तातैं जहां वस्तुभेद है तहां कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिही नाही है ॥ तातैं लौकिकजनभी अर मुनिजनभी वस्तुका तत्त्व कहिये यथार्थस्वरूप ऐसाही देखो, जो कोई काहूका कर्ता नाही, परद्रव्य परका कर्ताही श्रद्धानमैं ल्यावो। आगैं कहै हैं, जो पुरुष ऐसा वस्तुस्वभावका नियम नाही जानै है, ते अज्ञानी भये कर्मकूं करै हैं, ते भावकर्मके कर्ता होय हैं, ऐसैं अपने भावकर्मका कर्ता अज्ञानतैं चेतनही है, ताकी सूचनिकाका काव्य है–

ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेममज्ञानमग्नमहसो वत ते वराकाः।
कुर्वंति कर्म तत एव हि भावकर्मकर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥ १० ॥

सं० टी०—तु-पुनः, ये-सांख्यादयो वादिनः इमं प्रसिद्धं, स्वभावनियमं-स्वभावः-चेतनत्वं अचेतनत्वं तस्य नियमं न कलयंति न मन्यंते सांख्यादीनां प्रकृत्यादितत्त्वानामेकत्वघटनात्, कीदृक्षास्ते ? अज्ञानेत्यादिः-अज्ञाने मग्नं-अज्ञानाच्छादितं, महः ज्ञानज्योतिः येषां ते वतेति खेदयति ते-वादिनः, वराकाः-स्वतत्त्वव्याघातात् स्वस्वरूपं स्थापयितुमसमर्थाः संतः केवलं कर्मज्ञानावरणादिप्रकृतिं उपार्जयंति हीति स्फुटं तत एव-अज्ञानादेव भावकर्म करोति न द्रव्यकर्म करोति यतः तत एव स्वयं-

भावकर्माणि चैतन्यविवर्तात्मानि भांति नुः। क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथंचिच्चिद्मेदतः॥

यत् यस्मात् कारणात् पुद्गलः ज्ञायको न अचेतनत्वात्॥ ११ ॥ अथ प्रकृतियादिनं सांख्यं प्रतिक्षिपति—

अर्थ–कर्म है सो कार्य है, तातैं विना किया होय नाही। बहुरि सो कर्म जीवका अर प्रकृतिका दोऊका किया नाही। जातैं प्रकृति तौ जड है, ताकै अपने अपने कार्यका फलका भोगनेका प्रसंग आवै है बहुरि एक प्रकृतिहीकी कृति कहिये कार्य नाही है। जातैं प्रकृति तौ अचेतन है अर भावकर्म चेतन है। तातैं इस भावकर्मका कर्त्ता जीव ही है यह जीवहीका कर्म है। जात चेतनके अनुग कहिये चेतनतैं अन्वयरूप हैं-चेतनके परिणाम हैं। अर पुद्गल है सो ज्ञाता नाही है तातैं पुद्गलके नाही है॥ भावार्थ–चेतनकर्म चेतनहीकै होय, पुद्गल जड है, ताकै चेतनकर्म कैसैं होय? आगे जे केई भावकर्मका भी कर्ता कर्महीकूं माने हैं, तिनिकूं समझावनेकूं स्याद्वादकरि वस्तुकी मर्यादा कहै हैं। ताकी सूचनिकाका काव्य है–

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते॥ १२॥

सं॰ टी॰—कैश्चित्-सांख्यमतानुसारिभिः इति पूर्वोक्ता श्रुतिः-जिनोक्तं सूत्रं कोपिता-विराधिता किंभूता श्रुतिः? अचलिता-प्रमाणादिभिश्चलयितुमशक्या, किंभूतैस्तैः? हतकैः-आत्मनोऽकर्तृत्वप्रतिपादकैः आत्मा-चेतयिता, कर्ता तु प्रकृतिः, किंकृत्या? कर्मैव-प्रकृतिरेव कर्तृ-सुखदुःखादिकारकं, प्रवितर्क्य-प्रविचिंत्य, कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः, कर्मैव ज्ञानिनं करोति तत्कर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः, तथैव निद्रासुखदुःखमिथ्यादृष्ट्यसंयतोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकानुभाशुभप्रशस्ताप्रशस्तादिकं तत्तत्संबंधि कर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः तथा च जैनी श्रुतिः-पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रियमभिलषति स्त्रीवेदाख्यं कर्म नरं च तथा यत्परं हंति येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन जीवस्याब्रह्मपरघातादिनिषेधात् कर्मण एव तत्समर्थनात् आत्मनः-जीवस्य कर्तृतां-भावकर्मकारित्वं क्षिप्त्वा-निराकृत्य, प्रकृतेरेव कर्तृत्वे तस्य सर्वेषां जीवानामकर्तृत्वे

ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यंतु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परं ॥ १३ ॥

सं० टी०—अमी आर्हताः-अर्हतः-भगवत इमे, अर्हद्देवो येषां ते आर्हताः, पुरुषं-आत्मानं, कर्तारं-भावकर्मकर्तारं, मा स्पृशंतु मांगीकुर्वंतु, के इव ? सांख्या इव-यथा सांख्या आत्मनोऽकर्तृत्वं प्रतिपादयंति तथा साक्षात् ज्ञानरूपेण जैना अपि, किन्तु इत्यागमोक्तौ, भेदावबोधात्-भेदज्ञानात् अधः-अज्ञानावस्थायां तं-आत्मानं, तदा-संसारावस्थापर्यंतं, कर्तारं-भावकर्मकारकं, कलयंतु-जानंतु, तु-पुनः,ऊर्ध्वं-अज्ञानादुपरि-भेदविज्ञानावस्थायां, एनं-आत्मानं, स्वयं-स्वभावतः प्रत्यक्षं अध्यक्षं यथा भवति तथा च्युतकर्तृभावं-त्यक्तकर्तृ स्वभावं पश्यंतु-अवलोकयंतु मुनयः किंभूतं ? उद्धतेत्यादिः-उद्धतं च तद्बोधधाम-ज्ञानज्योतिः तत्र नियतं-नियंत्रितं, अचलं निष्कंपं, ज्ञातारं-ज्ञायकं एकं कर्मद्वैतरहितत्वादद्वैतं परं जगच्छ्रेष्ठं, ॥ १३ ॥ अथ क्षणक्षयस्वलक्षणवादिनं सौगतं निराचष्टे—

अर्थ—आर्हत कहिये अर्हतके मतके जैनी जन हैं ते आत्माकूं सर्वथा अकर्त्ता सांख्यमतीनिकीज्यौं मति मानुं । तिम आत्माका भेदविज्ञान भये पहलै कर्ता मानूं अर भेदज्ञान भये ताकें उपरि उद्धत ज्ञानमंदिरविषै निश्चित नियमरूप कर्त्तापणाकरि रहित निश्चल एक ज्ञाताही आपै आप प्रत्यक्ष देखो ॥ भावार्थ—सांख्यमती पुरुषकूं सर्वथा एकांतकरि अकर्ता शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानै हैं । सो ऐसें माननेतैं पुरुषकै संसारका अभाव आवै है । प्रकृतिकै संसार मानै तौ प्रकृति तौ जड है, ताकै सुखदुःख आदिका संवेदन नाही । ताकै काहेका संसार ? इत्यादि दोष आवै हैं ॥ यातैं सर्वथा एकांत वस्तुका स्वरूप नाहीं । तातैं ते सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं । तातैं तैसें जैनी भी मानै हैं तौ मिथ्यादृष्टि होय हैं ॥ तातैं, आचार्य उपदेश करै हैं-जो, सांख्यमतीनिकीज्यौं जैनी आत्माकूं सर्वथा अकर्ता मति मानूं । जहांताईं आपापरका भेदविज्ञान न होय, तहांताईं तौ रागादिक अपने चेतनरूप भावकर्मनिका कर्ता मानूं । अर भेदविज्ञान भये पीछे शुद्धविज्ञानघन समस्तकर्तापणाके अभावकरि रहित एक ज्ञाताही मानूं ऐसैं एकही आत्माके विषै कर्ता अकर्ता दोऊ भाव विवक्षाके वशतैं सिद्ध होय हैं यह स्याद्वादमत जैनीनिका है अर वस्तुस्वभाव ऐसाही है । कल्पना नाही है । ऐसै मानै पुरुषकै संसार मोक्ष आदिकी सिद्धि है । सर्वथा एकांत माननेविषै सर्व निश्चयव्यवहारका लोप होय है ऐसै जानना ॥ आगै बौद्धमती क्षणिकवादी हैं, ते ऐसें मानै हैं, जो कर्ता तौ अन्य है अर भोक्ता अन्य है । तिनिकै सर्वथा

मस्त क्लेश मिटै। ताकूं कहिये, जो, हे बौद्ध, तै प्रत्यभिज्ञानकूं भ्रम बताया, तौ जो अनुभवगोचर है सो भ्रम ठहरथा तौ तेरा मानना क्षणिक है। सो भी अनुभवगोचर है। सो यह भी भ्रमही ठहरथा। जातैं अनुभव अपेक्षा दोऊही समान हैं तातैं सर्वथा एकांत मानना तौ दोऊ ही भ्रम हैं—वस्तुस्वरूप नाहीं ॥ हम कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप कहे हैं, सो सत्यार्थ है ॥ आगे ऐसेही क्षणिक माननेवालेकूं युक्तिकरि निषेधे हैं—

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंतं वृत्तिमन्नाशकल्पनात्।
अन्यः करोति भुंक्तेऽन्य इत्येकांतश्चकास्तु मा ॥ १५ ॥

सं० टी०—इति ईदृक्षः एकांतः सौगतोपकल्पितक्षणिकैकांतः, मा चकास्तु मा प्रतिभासतां, इति किं? अन्यः भिन्नः क्षणः, करोति कार्यं निष्पादयति, अन्यः तदनंतरभावी अन्यः भिन्नः क्षणः पूर्वक्षणकृतं कार्यं भुंक्ते भुनक्ति, कुतः? वृत्त्यमित्यादिः वृत्तेः वर्तनायाः, अंशाः शनादिपर्यायाः, तेषां भेदात्, द्रव्याभावे सति पूर्वोत्तरपर्यायाणामत्यंतभिन्नत्वात्, कुतो भेदः? अत्यंतं अंतर्द्रव्यादिस्वरूपेणापि, वृत्तीत्यादिः वृत्तिः वर्तना येषां ते वृत्तिमंतः पर्यायाः, तेषां नाशः अत्यंतमुच्छेदः, तस्य कलनात् इत्येकांते यो हिंसाभिसंधाता स न हिनस्ति सोऽहिंसकः सन् बध्नाति पापकर्मणा यस्तु बध्यते स न मुच्यते अन्यो ध्याता अन्यो ध्यानंचितक अन्यो मुक्तः इति पूर्वोत्तरपर्यायाणामत्यंतभेदात् ॥ १५ ॥

अर्थ—वृत्त्यंश कहिये क्षण क्षण प्रति अवस्थाभेद है तिनकूं वृत्त्यंश कहिये तिनिके अत्यंत कहिये सर्वथा भेद न्यारे न्यारे वस्तु माननेतैं वृत्तिमत् कहिये जामैं अवस्था पाइये ऐसा आश्रयरूप वृत्तिमान् वस्तु, ताका नाशकी कल्पनातैं ऐसैं मानै है जो करै और है अर भोगवै और है सो आचार्य कहै हैं जो ऐसा एकांत मति प्रकाशो। जहां अवस्थावान् पदार्थ—का नाश भया, तहां अवस्था कौनके आश्रय होय? ऐसा दोऊका नाश आवै है, तब शून्यका प्रसंग होय है ॥

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यांधकैः
कालोपाधिवलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रैरितै-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निस्सूत्रमुक्तोक्षिभिः ॥ १६ ॥

सं० टी०—अहो आश्चर्यं, परैः स्याद्वादानवद्यविद्याविचारचोरकैः, अंधकैः बौद्धैः, आत्मा आत्माख्यं द्रव्यं, व्युज्झितः त्यक्तः,

सो जे हार नामा वस्तुकूं सूत्रसहित मोती पोये नाही देखे है अर मोतीनिहीकूं न्यारे न्यारे देखि ग्रहणकरै हैं ॥ तिनिके हारकी प्राप्ति नाही होय है तैसे ही जे आत्माका एकनित्य चैतन्यभावकूं नाही ग्रहण करै हैं अर समय समय वर्तना परिणामरूप उपयोगकी प्रवृत्तिकूं देखि तिसकूं सदा नित्य मानी कालकी उपाधितैं अशुद्धपना मानी अैसें जानै है जो नित्य मानै कालका उपाधि लागै तब आत्माके अशुद्धपणा आवै तब अतिव्याप्तिदूषण लागै सो इस दूषणके भयते ऋजु सूत्रनयका विषय जो शुद्ध वर्तमान समयमात्र क्षणिकपणा तिसमात्र मानि आत्माकूं छोडि दिया ॥ भावार्थ– बौद्धमती आत्माकूं समस्तपणैं शुद्धमाननेका इच्छुक होय अर विचारि जो आत्माकूं नित्य मानिये तो नित्यमैं तो कालकी अपेक्षा आवै तातैं उपाधि लागै तब बडी अशुद्धता आवै तब अतिव्याप्तिदूषण लागै इस भयतैं शुद्ध ऋजु सूत्रनयका विषय वर्तमान समयमात्र था तिसमात्र क्षणिक आत्माकूं मान्या तब आत्मा नित्यानित्यस्वरूप द्रव्यपर्याय स्वरूप था तिसका ग्रहण ताके न भया केवलपर्याय मात्रविषैं आत्माकी कल्पना भई सो सत्यार्थ आत्मा नाही अैसे जानना ॥ अब फेरि इसही अर्थके समर्थनरूप वस्तुका अनुभवन करनेकूं काव्य कहै हैं–

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिंत्यतां।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं (भर्तुं) न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिंतामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्येव नः ॥ १७ ॥

सं० टी.––कर्तुः कारकस्य, वेदयितुश्च कर्मभोजकस्य च, भेदः परस्परं कथंचिद्भिन्नत्वमस्तु सर्वथा भेदे तयोः केवलं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा स्यात् यः कर्ता स एव भोक्ता इति जीवांतरवेदकसंतानेऽपि न स्यात् कुतः? युक्तिवशात्–नयप्रमाणात्मिका युक्तिः तस्य वशतः द्रव्यार्थादेशादेकत्वप्रतिभासनात् अहमहमिकात्मा विपर्यात्मा ननु भवन् सर्वलोकानां स्वलक्षणप्रत्यक्षत्वप्रतिभासनाच्च चित्रज्ञानवत्सर्वथा भेदाघटनात्, तु पुनः कथंचिदभेदो वास्तु सर्वथाऽभेदे तयोरुभयव्यपदेशाभावः केवलं कर्तैव भोक्तैव वा स्यात् ततस्तद्वतत्ताभ्यां परस्परं व्यावृत्तिरेकानेकस्वभावत्वात् घटरूपादिवत् ततः य एव करोति स एव अन्यो वा वेदयते य एव वेदयते स एव अन्यो वा करोति इति नास्त्येकांतः कर्ता वेदयिता भोक्ता वात्मा भवतु वा अथवा मा भवतु कर्ता भोक्ता मास्तु वस्त्वेव

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥ १८ ॥

सं० टी०—च-पुनः कर्तृ-कारकं, कर्म च-कार्यं, विभिन्नं-परस्परं भिन्नं, इष्यते, कया ? केवलं-परं व्यावहारिकदृशैव-व्यवहारदृष्ट्यैव यथा सुवर्णकारादिः कुंडलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति तत्फलं च भुंक्ते न तु तन्मयो भवति तथात्मापि पुण्यपापादिकं पुद्गलात्मकं कर्म करोति, तत्फलकुलं च कवलयति न तु तन्मयः मीमांस्यते। यदि-चेत्, निश्चयेन-निश्चयनयेन वस्तु-द्रव्यमात्रं केवलं, इष्यते तदा सदा-नित्यं, कर्तृ कर्म च आत्मनः कर्तृत्वकर्मत्वयोरैक्यमिष्यते यथा च स नाडिंधमादि चिकीर्षुः, चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति आत्मपरिणामात्मकं दुःखलक्षणं चेष्टारूपं कर्मफलं भुंक्ते ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति तथात्मापि चिकीर्षुश्चेष्टारूपं स्वपरिणामात्मकं कर्म करोति चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं दुःखलक्षणं फलं च भुंक्ते ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्चैव स्यात् ॥ १८ ॥ अथ वस्त्वंतरप्रवेशं वस्तुनो न निर्लुठति पद्यद्वयेन—

अर्थ—व्यवहारकी दृष्टीमें तो केवल कर्ता अर कर्म भिन्न दिखै हैं अर जब निश्चयकरि देखिये वस्तुकूं विचारिये तब कर्ता अर कर्म सदाकाल एकही देखिये है ॥ भावार्थ—व्यवहारनय तो पर्य्यायाश्रित है सो यामें तो भेदही दीखै ॥ बहुरि शुद्ध निश्चयनय है द्रव्याश्रित है तामें अभेदही दीखे तातैं व्यवहारमें तो कर्ता कर्मका भेद है निश्चयमें अभेद है॥

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥७॥

अर्थ—ननु कहिये अहो मुनि हो, तुम यह निश्चय करौ, जो यह प्रगटपणे परिणाम है, सो तौ निश्चयतैं कर्म है । बहुरि सो परिणाम अपना आश्रय जो परिणामी द्रव्य, ताहीका होय है, अन्यका नाही होय है। जातैं परिणाम हैं ते अपने अपने द्रव्यके आश्रय हैं, अन्यके परिणामका अन्य आश्रय होय नाही ॥ बहुरि जो कर्म है, सो कर्ताविना होय नाही । बहुरि वस्तु है सो द्रव्यपर्यायस्वरूप है । तातैं ताकी एक अवस्थारूप कूटस्थस्थिति आदि होय नाही, सर्वथा नित्यपणा बाधासहित है । तातैं अपना परिणामरूप कर्मका आपही कर्ता है, यह निश्चयसिद्धांत है ॥ अब इसही अर्थके समर्थनरूपकलश काव्य कहै हैं–

विशेष–इसश्लोककी संस्कृतटीका उपलब्ध न हुई ॥ * ॥

ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-
ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥ २३ ॥

सं० टी०—शुद्धेत्यादिः-शुद्धद्रव्यं-दर्शनज्ञानचारित्रात्मकनिरुपाधिजीवद्रव्यादि, तस्य स्वरसः स्वभावः, तेन भवनात् स्वभावस्य-चैतन्यादिलक्षणस्य स्वरूपस्य, शेषं द्रव्यान्तरं अन्यद्रव्यं चेतनं वा किं भवति अपि तु परद्रव्यस्य स्वभाविनस्तस्य-द्रव्यस्वभावः स्वरूपं न भवति, परद्रव्यं तस्य स्वभावि न भवतीति तात्पर्यं। यदि वा-अथवा सः स्वभावः चेतनादिलक्षणः तस्य-अचेतनाद्यन्यद्रव्यस्य स्वरूपं किं स्यात्? अपि तु न स्यादेव। अथ स्वरूपस्वरूपिणोः परस्परमसंकरव्यति-करादिदोषापत्तेः न किंचिच्चेतनमचेतनं वा स्यात् इममेवार्थं दृष्टांतयति-ज्योत्स्नारूपं सेटिकादिरूपस्य श्वेतस्वरूपं भुवं-भूतलं, स्नपयति-धवलीकरोति, एव-निश्चयेन, तथापि भूमिः-विश्वंभरा तस्य-ज्योत्स्नारूपस्य स्वभावो नास्ति तस्य स्व-भाविनो ज्योत्स्ना स्वरूपं न, *ज्योत्स्नायाः सेटिकास्वभावत्वात्।* दृष्टांतेन स्पष्टं दार्ष्टांतं दर्शयति-ज्ञानं-स्वपरावभासि ज्ञेयं कर्मतापन्नं परपदार्थं, कलयति-परिच्छिनत्ति-जानाति, सदा-नित्यं, तथापि अस्य ज्ञानस्य ज्ञेयं स्वरूपं नैवास्ति, ज्ञेयस्य स्वरूपस्य ज्ञाने स्वरूपि नैवास्ति तयोः परस्परमत्यंतभेदात्॥ २३॥ अथ ज्ञानस्वभावं वाचयते—

अर्थ-जिस द्रव्यका जो निजभाव होय सो स्वभाव है। सो आत्माका ज्ञानचेतना स्वभाव है। ताकै शुद्ध द्रव्य जो शुद्ध आत्मा ताका निजरस ज्ञानचेतना है। ताकै होतैं तै अन्य बाकी जो द्रव्य है सो कहा होय? किछूमी न होय। परमार्थकरि संबंध नाही॥ अथवा अन्यद्रव्य है ताकै यह स्वभाव कहा होय? किछूमी न होय। परमार्थकरि संबंध नाही॥ जैसें ज्योत्स्ना जो चांदणी ताका रूप पृथ्वीकूं उज्वल करै है, तौ कहा पृथ्वी चांदणीकी होय जाय? किछूमी न होय। तैसें ज्ञान है सो ज्ञेयपदार्थकूं सदाकाल जानै है, तौ ज्ञेय ज्ञानका किछु कहा होय जाय? किछूमी नाही है॥ भावार्थ-शुद्धनयकी दृष्टिकरि देखिये तब कोई द्रव्यका स्वभाव काहू अन्यद्रव्यरूप होय नाही। जैसें चांदणी पृथ्वीकूं उज्ज्वल करै है परंतु चांदणीकी पृथ्वी किछू होय नाही है। तैसें ज्ञान ज्ञेयकूं जानै है परंतु ज्ञानका ज्ञेय किछू होय नाही॥ आत्माका ज्ञान स्वभाव है सो याकी स्वच्छतामें ज्ञेय स्वयमेव झलकै है। तौऊ ज्ञानमें तिनि ज्ञेयनिका प्रवेश नाही है॥ अब कहै हैं, जो ज्ञानमें रागद्वेषका उदय कहां ताईं है? ताका काव्य—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयंति ये तु ते ।
उत्तरंति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरांधबुद्धयः ॥ २८ ॥

सं० टी०—ये वस्तुस्वरूपानभिज्ञपक्षाः सांख्याः, रागजन्मनि-रागद्वेषोत्पत्तौ, परद्रव्यमेव-आत्मान्यद्रव्यं रागोत्पत्तौ मणिकनककामिनीप्रमुखं, द्वेषोत्पत्तौ विषविपक्षकर्कशकंटकादिद्रव्यं, एव निश्चयेन, निमित्ततां-हेतुतां, कलयंति-प्रतिपादयंति कलि घलि कामधेनुः इति कामधेनाद्युक्तत्वात्कलेः प्रतिपादनार्थः । तु-पुनः,ते- जडधियः हि-निश्चितं, मोहवाहिनीं-महामोहनिम्नगां, नोत्तरंति-उत्तर्तुं न शक्नुवंति स्वरूपानभिज्ञत्वात्, कीदृशाः संतः ? शुद्धेत्यादिः- शुद्धबोधेन-कर्ममलकलंकरहितेन ज्ञानेन, विधुरा रहिता अंधा, स्वरूपदर्शनाभावात् बुद्धिर्मतिः येषां ते, तत्कथं न कारणं ? तथाहि-यदि यत्र भवति तद्घातेन तद्धन्यते एव यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते, न हन्यते च स्त्र्यादीनां विनाशे रागादिः तस्मात्तथा न, तथा च यत्र हि यद्भवति तत्तद्घाते हन्यते एव यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते एव न हन्यते च रागादीनां विनाशे कमनीयकामिन्यादिः तस्मान्न तत्तथा, यत्तु न यत्र भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते, न हन्यते स्त्रीघाते रागादिः, यत्र हि यत्र भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते, न रागादिघाते च स्त्र्यादिर्हन्यते तस्मान्न तथेति ॥ २८ ॥ अथ बोधाबोधयोरंतरमुन्नीयते—

अर्थ—जे पुरुष रागकी उत्पत्तिविषैं परद्रव्यहीका निमित्तपणा मानै हैं, अपना किछूभी हेतु न मानै हैं, ते मोहरूप नदीके पार नाहीं उतरै हैं ॥ जातैं शुद्धनयका विषयभूत जो आत्माका स्वरूप ताका ज्ञानकरि रहित अंध है बुद्धि जिनिकी ते ऐसे हैं ॥ भावार्थ—शुद्धनयका विषय आत्मा अनंतशक्तीकूं लीये चैतन्यचमत्कारमात्र नित्य अभेद एक है। तामैं यह स्वच्छता है, जो, जैसा निमित्त मिलै तैसे आप परिणमै है ॥ ऐसा नाहीं, जो पैला परिणमावै तैसे परिणमै है अपना किछू पुरुषार्थ नाहीं है ॥ सो ऐसे आत्माका स्वरूपका जिनिकूं ज्ञान नाहीं है, ते ऐसे मानै है, जो आत्माकूं परद्रव्य परिणमावै है, तैसैं परिणमै है। ते ऐसे माननेवाले मोहकी वाहिनी जो सेना, अथवा नदी, रागद्वेषादि परिणाम तिनितैं पार नाहीं हो हैं। तिनिकै रागद्वेष नाहीं मिटै हैं ॥ जातैं अपना पुरुषार्थ तिनिकै होनेमैं होय तौ तिनिकै मेटनेमैंभी होय । अर परहीके कीये होय तौ पैला कीयाही करै । अपना मेटना काहेका ? तातैं अपना कीया होय अपना मेटया मिटै, ऐसैं कथंचित् मानना सम्यग्ज्ञान है ॥

मलरहितः स चासौ बोधश्च तस्य तेन या महिमा-माहात्म्यं यस्य सः ततः-तस्मात् एते-प्रसिद्धा बोद्धा ज्ञानेन तदाकार-तदुत्पत्ति-तदध्यवसायवादिनः अज्ञानिनः किं-किमु रागद्वेषमया भवंति, कीदृशाः? वस्त्वित्यादिः-वस्तुनःस्थितिः-नयोपनयैकांतसमुच्चयरूपा तस्या बोधेन वंध्या-रहिता धिषणा मतिर्येषां ते, पुनः सहजां-स्वभावजां उदासीनतां-रागद्वेषभावलक्षणां माध्यस्थ्यं कथं मुंचति ॥ २९ ॥ अथ निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्रं विंदति—

अर्थ—यह बोद्धा कहिये ज्ञानी है सो पूर्ण अर एक जो च्युत नाही होय अर शुद्ध-विकारतें रहित ऐसा जो ज्ञान तिसस्वरूप है महिमा जाकी ऐसा है। सो ऐसा ज्ञानी बोध्य कहिये ज्ञेयपदार्थ तिनितैं किछूभी विक्रियाकूं नाही प्राप्त होय है ॥ जैसें दीपक है सो प्रकाशनेयोग्य घटपट आदि पदार्थ हैं तिनितैं विक्रियाकूं प्राप्त नाही होय है तैसें ॥ सो ऐसे वस्तुकी मर्यादाका ज्ञानकरि रहित है धिषणा कहिये बुद्धि जिनकी ऐसे भये संते ए अज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक उदासीनताकूं क्यों छोडे हैं ? रागद्वेषमय क्यों होय हैं ? ऐसा आचार्यने शोच किया है ॥ भावार्थ—ज्ञानका स्वभाव ज्ञेयकूं जाननेहीका है। जैसा दीपकका स्वभाव घटपट आदिककूं प्रकाशनेका है। यह वस्तुस्वभाव है। ज्ञेयकूं जाननेमात्रतें ज्ञानमें विकार नाही होय है। अर ज्ञेयकूं जानिकरि भला बुरा मानि आत्मा रागी द्वेषी विकारी होय है। सो यह अज्ञान है। सो आचार्य शोच किया है-जो वस्तुका स्वभाव तौ ऐसे, अर यह आत्मा अज्ञानी होयकरि रागद्वेषरूप क्यों परिणमै है ? अपनी स्वाभाविक उदासीनता अवस्थारूप क्यों रहै नाही ?। सो यह आचार्यका शोच युक्त है, जातैं जेतैं शुभ राग है तेतैं प्राणीनिकूं अज्ञानतें दुःखी देखि करुणा उपजै तब शोच होय है ॥ अब अगिले कथनकी सूचनिकारूप काव्य कहै हैं—

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्।
दूरारूढचरित्रवैभवबलां चंचच्चिदर्चिर्मयीं
विंदंति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनां ॥ ३० ॥

सं० टी०—रागेत्यादिः-रागद्वेषौ तौ च तौ विभावौ च विभावपर्यायौ ताभ्यां मुक्तं महो येषां ते पुरुषाः, ज्ञानस्य संचेतनां-सम्यग्ज्ञायकत्वं, विंदंति-लभंते, कीदृशां तां ? चंचदित्यादिः-चंचत्-देदीप्यमाना चित्-दर्शनज्ञानं, सैवार्चिः-प्रकाशः-तेन निर्वृत्तां

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धं ।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः ॥ ३१ ॥

सं० टी०—ज्ञानस्य-आत्मनः, गुणे गुणिन उपचारः संचेतनया सम्यग्ध्यानेन, एव निश्चयेन, ज्ञानं-बोधः नित्यं-निरंतरं, प्रकाशते-चकास्ति, किं? अतीव शुद्धं-अत्यंतं निरावरणं, तु-पुनः अज्ञानसंचेतनया ज्ञानादन्यत्र इदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना सा द्विधा-कर्मचेतना कर्मफलचेतना च। तत्र ज्ञानादन्यत्र इदमहं करोमीति चेतनमाद्या, वेदयेहं ततोऽन्यत्रेदमिति चेतनं द्वितीया। तया बंधः-अष्टविधकर्मणां बंधः धावन् आस्कंदन् सन् बोधस्य ज्ञानस्य शुद्धिं निरुणद्धि-आच्छादयति अतो मोक्षार्थिना सा हेया ३१ अथ नैष्कर्म्यमवलंबते—

अर्थ-ज्ञानकी संचेतनाकरि ही ज्ञान है सो अत्यंत शुद्ध निरंतर प्रकाशै है। बहुरि अज्ञानकी चेतनाकरि बंध है सो दोडता संता ज्ञानकी शुद्धताकूं रोकै है, न होने दे है॥ भावार्थ-संचेतना कहिये जो जहां जिसतैं एकाग्र होय तिसही ओर अनुभवनरूप स्वाद लीया करै सो तिस स्वरूप चेतना कहिये। सो जब ज्ञानहीतैं एकाग्र उपयुक्त होय तिसही ओर चेत राखै सो तौ ज्ञानचेतना है। सो यातैं तौ ज्ञान अत्यंत शुद्ध होय प्रकाशै है, केवलज्ञान उपजि आवै है तब संपूर्ण ज्ञानचेतना नाम पावै॥ बहुरि अज्ञान जो कर्म अर कर्मका फलरूप उपयोगकूं करना सो तिसही ओर एकाग्र हो अनुभव करना सो अज्ञानचेतना है। सो यातैं कर्मका बंध होय है सो ज्ञानकी शुद्धताकूं रोकै है॥

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलंबे ॥ ३२ ॥

आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ ३४ ॥

सं० टी०—आत्मनि आत्मना नित्यं वर्ते चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि च, किंकृत्वा ? इदं-प्रसिद्धं, सकलं-समस्तं, उदयत्-उदय-निषेकावस्थापन्नं, कर्म ज्ञानावरणादि, आलोच्य-सम्यग्विवेच्य, किंभूतं ? मोहेत्यादिः-मोहस्य-रागद्वेषरूपस्य, विलासः-विलासनं तेन विजृंभितं-निष्पादितं, अत्राप्यक्षसंचारः-करोमि कारयामि समनुजानामि मनसा वचसा कायेन। मनसा कर्म न करोमि मनसा न कारयामि, मनसा कुर्वंतमप्यन्यं न समनुजानामि. मनसा न करोमि न कारयामि, मनसा न करोमि कुर्वंतमप्यन्यं न समनुजानामि एवमेकद्वित्रिसंयोगेन आलोचनभेदा एकान्नपंचाशत् संवोभुवति ॥ ३५ ॥ इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः ॥ अथ स्वप्रत्याख्यानमाख्याप्यते—

अर्थ–निश्चयचारित्रकूं अंगीकार करनेवाला कहै है जो, मोहके विलासकरि फैल्या यह उदयकूं प्राप्त होता जो वर्तमान कर्म ताकूं समस्तकूं आलोचनामें लेकरि समस्तकर्मसूं रहित चैतन्यस्वरूप जो आत्मा ताविषै मैं आपहीकरि निरंतर वर्तों हौं ॥ भावार्थ–वर्तमानकालमैं कर्मका उदय आवै, ताकूं ज्ञानी ऐसे विचारै है । जो, पूर्वे बांध्या था ताका यह कार्य है। मेरा तौ यह कार्य नाही। मै याका कर्ता नाही। मैं तौ शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा हौं । ताकी दर्शनरूप प्रवृत्ति है। ताकरि या उदय भये कर्मका देखने जाननेवाला हौं । मेरा स्वरूपहीमैं मै वर्तों हौं । ऐसा अनुभवन करनाही निश्चयचारित्र है ॥ ऐसैं आलोचनाकल्प समाप्त कीया ॥ आगैं प्रत्याख्यानकल्प कहै हैं–

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ ३५ ॥

सं० टी०—चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि आत्मनि, नित्यं, आत्मना कृत्वा वर्ते ध्यानरूपेणाहं। कीदृक्षोहं? निरस्तसंमोहः दूरीकृतरागद्वेषः । किं विधाय ? समस्तं भविष्यत्कर्म प्रत्याख्याय निराकृत्य-करिष्यत् करिष्यमाणं समनुज्ञास्यन्मनोवचनकायैः निरुध्य, इति प्रत्याख्यानं समाप्तं, तथा चाक्षसंचारोऽत्र-करिष्यामि कारयिष्यामि समनुज्ञास्यामि मनसा वचसा कायेन। मनसा कर्म न करिष्यामि, मनसा न कारयिष्यामि, मनसा कुर्वंतमप्यन्यं न समनुज्ञास्यामि, मनसा न करिष्यामि न कारिष्यामि, मनसा न करिष्यामि कुर्वंतमप्यन्यं न समनुज्ञास्यामि एवमेकद्वित्रिसंयोगजाः एकोनपंचाशत्प्रत्याख्यानभेदा जायंते ॥ ३५ ॥ इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः । अथैतत्त्रयं ज्ञायते—

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमंतरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानं ॥ ३७ ॥

सं० टी०—मम आत्मनः कर्मेत्यादिः-कर्म एव विषतरुः-विषवृक्षः चेतनाच्छादकत्वात् तस्य फलानि-शुभाशुभानि विगलंतु-स्वयं गलित्वा पतंतु-प्रलयं यांतित्यर्थः कथं ? भुक्तिमंतरेण-उदयदानं विना, अहं आत्मानं संचेतये-ध्यायामि, कीदृशं ? अचलं-अक्षोभ्यं, चैतन्यात्मानं दर्शनज्ञानचेतनास्वरूपं तथाहि-नाहं मतिज्ञानावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये, नाहं श्रुतज्ञानावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये एवं ज्ञानावरणपंचके दर्शनावरणनवके, वेदनीयद्विके, दर्शनमोहनीयत्रिके, चारित्रवेदनीयाख्यमोहनीयपंचविंशतिके, आयुश्चतुष्के, नामकर्मणस्त्रयोनवतिप्रकृतौ, गोत्रद्विके, अंतरायपंचके योजनीयं विस्तरभयात् सुगमत्वाच्च न लिखितमत्र ॥ ३७ ॥ अथात्मतत्त्वे कालावली सफलामभिरमयति—

अर्थ—सकलकर्मफलकी संन्यासभावना करनेवाला कहै है, जो, कर्मरूपी विषका वृक्षके फल हैं ते मेरे भोगनेविनाही खिरि जावो ॥ मैं चैतन्यस्वरूप जो मेरा आत्मा ताकूं निश्चल चेतूं हों-अनुभवूं हों । भावार्थ—ज्ञानी कहै है, जो कर्मका फल उदय आवै है, ताकूं मैं ज्ञाता द्रष्टा हुवा देखूं हों, ताका फलका भोक्ता नाहीं बनूं हों, तातैं मेरे भोगे विनाही ते कर्म खिरि जावो । मैं मेरे चैतन्यस्वरूप आत्मामैं लीन भया तिनिका देखने जाननेवालाही हों ॥ इहां इतना विशेष और जानना जो, अविरतदशामैं तथा देशविरत प्रमत्तसंयतदशामैं तौ ऐसा ज्ञानश्रद्धान ही प्रधान है अर जब अप्रमत्तदशा होयकरि श्रेणी चढै है तब यह अनुभव साक्षात् होय है ।

निश्शेषकर्मफलसन्न्यसनान्ममैवं सर्वक्रियांतरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य वहत्वनंता ॥ ३८ ॥

सं० टी०—मम-मे, इयं-प्रसिद्धा, कालावली-कालसमयपंक्तिः, अनंता-अनंतसमयावच्छिन्ना, वहतु-यातु, कीदृशस्य मे ? भृशं-अत्यर्थं, आत्मतत्त्वं-स्वस्वरूपं, भजतः-आश्रयतः, कीदृशं ? चैतन्यलक्ष्म-चैतन्यमेव लक्ष्म लक्षणं यस्य तत्, एवं-पूर्वोक्तप्रकारेण, निरित्यादिः-निश्शेषाणि-समस्तानि तानि च तानि कर्ममलानि च अज्ञानवशशुभाशुभादीनि तेषां सं-सम्यक् प्रकारेण न्यसनं-परित्यजनं तस्मात्, पुनः किंभूतस्य मे ? सर्वेत्यादिः-स्वक्रियाया अन्या क्रिया क्रियांतरं सर्वस्मिन् क्रियांतरे विहारः विहरणं, तत्र निवृत्ता वृत्तिः प्रवर्तनं यस्य तस्य ॥ ३८ ॥ अथ कर्मफलभुक्तिं भनक्ति—

फल चेतनाका त्यागकी भावनाकरि अज्ञानचेतनाका अभावकूं प्रकट नचाय ज्ञानचेतनाका स्वभावकूं पूर्ण करि, ताकूं नचावतें संतें ज्ञानी जन हैं ते सदाकाल आनंदरूप रहे। इस अर्थके कलशरूप काव्य है—

अत्यंतं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानंदं नाटयंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबंतु ॥ ४० ॥

सं० टी०—इतः कर्मतत्फलविरक्तिभजनादनंतरं, सर्वकालं-सर्वदा, प्रशमरसं-साम्यपीयूषं, पिबंतु-आस्वादयंतु योगिनः। कीदृशास्ते ? स्वां स्वकीयां ज्ञानसंचेतनां ज्ञानं मे ज्ञानस्याहमिति भावनां. सानंदं-हर्षोद्रेकं यथा भवति तथा नाटयंतः-कुर्वंतः, किं कृत्वा ? स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः, रसः, तत्र परिगतं प्राप्तं, स्वभावं स्वरूपं, पूर्णं-संपूर्णं, कृत्वा-विधाय तदपि किंकृत्वा ? प्रस्पष्टं व्यक्तं यथा भवति तथा अखिलेत्यादिः-अखिला-समस्ता चासावज्ञानचेतना च कर्मचेतना कर्मफलचेतना च तस्याः प्रलयनं-विनाशनं नाटयित्वा विधाय, तदपि किंकृत्वा ? अविरतं-निरंतरं, कर्मणः-ज्ञानावरणादेः,च-पुनः, तत्फलात्-तेषां कर्मणां फलात् रागद्वेषादेः, अत्यंतं निःशेषं, विरतिं-विरक्तिं, भावयित्वा-संभाव्य-कृत्वेत्यर्थः ॥ ४० ॥ अथेतो ज्ञानं विवेचयति—

अर्थ—ज्ञानी जन हैं ते कर्मतें अर कर्मके फलतें अत्यंत विरक्तभावनाकूं निरंतर भाव करि, बहुरि समस्त अज्ञानचेतनाका नाशकूं स्पष्ट प्रगटपणें नृत्य कराय अर अपना निजरसतें पाया स्वभावरूप जो ज्ञानचेतना ताकूं, आनंदसहित जैसें होय तैसें पूर्ण करि नृत्य करावते संते इहांतें आगें प्रशमरस जो कर्मका अभावरूप आत्मिकरस अमृत ताही सदाकाल पीवो। यह ज्ञानी जननिकूं प्रेरणा है ॥ भावार्थ—यह पहलै तौ तीन कालसंबंधी कर्मका कर्तापणारूप कर्मचेतनाके गुणचास भंगरूप त्यागकी भावना कराई। पीछे एकसो अठतालीस कर्मप्रकृतिका उदयरूप कर्मका फलका त्यागकी भावना कराई। ऐसैं अज्ञानचेतनाका प्रलय कराय अर ज्ञानचेतनामें प्रवर्तनेका उपदेश कीया है। यह ज्ञानचेतना सदा आनंदरूप अपना स्वभावका अनुभवरूप है। ताकूं ज्ञानी जन सदा भोगवो। यह श्रीगुरुनिका उपदेश है ॥ आगें यह सर्व विशुद्धज्ञानका अधिकार है सो ज्ञानकूं कर्ताभोक्तापणातें भिन्न दिखाय अब अन्यद्रव्य अर अन्यद्रव्यनिके भाव तिनितें ज्ञानकूं न्यारा दिखावै हैं। ताकी सूचनिकाका काव्य है—

आदानं ग्रहणं त्यजनं च ताभ्यां शून्यं रहितं, अमलं-कर्ममलातिक्रांतं तथा, कथं ? यथा अस्य ज्ञानस्य नित्योदितः-नित्यमुदी-यमानः-प्रकाशमानः, महिमा माहात्म्यं तिष्ठति, कीदृशः सः ? मध्येत्यादिः-मध्यं च आदिश्च अंतश्च मध्याद्यंताः तेषां विभागः, भेदः, तैः मुक्ता रहिता सा चासौ सहजा-स्वाभाविकी, स्फारा विस्तीर्णा, प्रभा-दीप्तिश्च लक्षणया ज्ञप्तिरूपं तया भासुरः-प्रकाशनशीलः, पुनः कीदृशः ? शुद्धेत्यादि शुद्धज्ञानेन घनः निरंतरः ॥ ४२ ॥ अथात्मधारणामनुमोदते—

अर्थ—यह ज्ञान है सो तैसैं अवस्थित भया है, जैसैं, याका महिमा निरंतर उदयरूप तिष्ठै, प्रतिपक्षी कर्म न रहै ॥ कैसा अवस्थित भया है ? अन्य जे परद्रव्य तिनितैं व्यतिरिक्त कहिये न्यारा अवस्थित भया है । बहुरि कैसा है ? आत्मनियतं कहिये आपहीविषैं निश्चित है । बहुरि कैसा है ? पृथक् कहिये न्याराही वस्तुपणाकूं धारता संता है । वस्तूका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक है, सो ज्ञानभी सामान्यविशेषपणाकूं धाऱ्या है । बहुरि कैसा है ? आदानोज्झन कहिये ग्रहणत्याग तिनिकरि शून्य है रहित है । ज्ञानमैं किछु त्याग ग्रहण नाही है । बहुरि कैसा है ? अमल कहिये रागादिक मलतैं रहित है ऐसा है । बहुरि याका महिमा नित्य उदयरूप तिष्ठै है सो कैसा है ? मध्य अर आदि अर अंत जे विभाग तिनिकरि मुक्त कहिये रहित, अर सहज कहिये स्वाभाविक, अर स्फार कहिये फैल्या विस्तऱ्या जो प्रभा कहिये प्रकाश ताकरि दैदीप्यमान है । बहुरि शुद्धज्ञानका घन कहिये समूह है ऐसा जाका महिमा सदा उदय-मान है । तैसैं अवस्थित भया है ठहऱ्या है ॥ भावार्थ—ज्ञानका पूर्णरूप सर्वकूं जानना है । सो जब यह प्रकट होय है तब तिनि विशेषणनिसहित प्रकट होय है । सो याकी महिमाकूं कोई विगाडि सकै नाही सदा उदयमान रहै है ॥ अब कहै हैं, ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माका धारणा सोही कृतकृत्यपणा है—

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेपतस्तत्तथात्तमादेयमशेपतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥ ४३ ॥

सं॰ टी॰—इह अस्मिन् आत्मनि चिद्रूपे, आत्मनः-ज्ञानस्वरूपस्य, तत्-प्रसिद्धं, संधारणं-धारणं, एकाग्रतामापणं । कीदृशस्य ? संहृतेत्यादिः-संहृता निवारिता, सर्वा कर्मोपाधिजा शक्तिः सामर्थ्यं येन तस्य, पूर्णस्य-संपूर्णज्ञानशक्तिविशिष्टस्य तत् यत् संधारणं तदेव अशेषतः-सामस्त्येन, उन्मोच्यं उन्मोक्तुं त्यक्तुं योग्यं, शरीरादि उन्मुक्तं-त्यक्तं, तथा-येन प्रकारेण सर्वं त्यक्तं तेनैव प्रकारेण तत् आत्मसंधारणं, अशेषतः आदेयं-गृहीतुं योग्यं दर्शनज्ञानादि आत्तं-गृहीतं, आत्मनउपादानमेव हेयो-पादेययोः परित्यागग्रहणमित्यभिप्रायः ॥ ४३ ॥ अथास्यानाहारकत्वं शंक्यते—

एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ ४६ ॥

सं० टी०—मुमुक्षुणा-मोक्तुमिच्छुना पुंसा, एक एव-जिनोपदिष्ट एव न मिथ्योपकल्पितः, मोक्षमार्गः, मोक्षसाधनोपायः सदा-नित्यं, सेव्यः-आश्रयणीयः, कीदृक्षः? दर्शनेत्यादिः-स्वश्रद्धान-स्वज्ञान-स्वचरणत्रयस्वरूपः, एतत्त्रयमंतरेण तस्यानुपलब्धेः, पुनः आत्मनः तत्त्वं-स्वरूपं, दर्शनादित्रयमंतरेणात्मस्वरूपाभावात् मोक्षमार्गस्य दर्शनादित्रयात्मकत्वात् च ॥ ४६ ॥ अथ तमेव मोक्षमार्गं मार्गयति—

अर्थ--जातैं आत्माका तत्त्व कहिये यथार्थरूप दर्शनज्ञानचारित्रका त्रिकस्वरूप है तातैं मोक्षके इच्छक पुरुषनिकरि एकही यह मोक्षमार्ग सदा सेवनेयोग्य है ॥

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥ ४७ ॥

सं० टी०—यः-सर्वजनप्रसिद्धः, मोक्षमार्गः-नानामिथ्यामतिविजृंभितः, अनेकतां दधानोऽपि स एषः मोक्षपथः, दृगित्यादिः-दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मकः सन्, एकः-न त्वनेकधा नियतः-अनेकप्रमाणनयोपन्यासैर्निश्चितः, यः-पुमान्, तत्रैव-मोक्षपथे दर्शनादिरूपे, स्थितिं-निश्चलतां स्वात्मनः, एति-प्राप्नोति, च-पुनः, अनिशं-निरंतरं- तं-रत्नत्रयरूपं मोक्षपथं एकाग्रो भूत्वा, ध्यायेत्-ध्यानविषयीकुर्यात्, पुनः यः तं-मोक्षपथं, सकलकर्मफलचेतनासन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयीभूत्वा चेतति-मुहुर्मुहुरनुभवति निरंतरं-प्रतिक्षणं, तस्मिन्नेव-दर्शनादित्रयात्मके मोक्षपथे, विहरति-अनुचरति । कीदृक्षः सन्? द्रव्यांतराणि-परद्रव्याणि, अस्पृशन्-अनाश्रयन् मनागपि स्वकीयान्यकुर्वन्, सः-पुमान्, अचिरात्-शीघ्रं, तद्भवे तृतीयभवादौ वा अवश्यं-नियमतः, समयस्य-पदार्थस्य-सिद्धांतशासनस्य वा सारं-परमात्मानं टंकोत्कीर्णस्वभावं विंदति-लभते, साक्षात् परमात्मा भवतीति यावत् कीदृशं? नित्योदयं-नित्यमुदीयमानं ॥ ४७ ॥ अथ लिंगस्य वैयर्थ्यं सार्थयति—

अर्थ—जो दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप यह एक मोक्षका मार्ग है सो जो पुरुष तिसही विषैं स्थितीकूं प्राप्त होय है तिष्ठै

सकै है। बहुरि कैसा है ? अखंड है, जामैं अन्य ज्ञेय आदिके निमित्ततैं खंड नाहीं होय है। बहुरि कैसा है ? एक है पर्यायनिकरि अनेक अवस्था होय हैं, तौऊ एकरूपपणाकूं नाहीं छोडै है। बहुरि कैसा है ? अतुल कहिये जाके बराबरी अन्य नाहीं ऐसा है आलोक कहिये प्रकाश जाका, सूर्यादिकका प्रकाशकी ज्ञानप्रकाशकूं उपमा नाहीं लागै। बहुरि अपने स्वभावकी जो प्रभा ताका प्राग्भार है. जाका भार अन्य सहारी सकै नाहीं। बहुरि अमल है, रागादिक विकारमलकरि रहित है। ऐसा परमात्माका स्वरूपकूं द्रव्यालिंगी नाहीं पावै है॥

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयंति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंडुलं॥ ४९॥

सं० टी०—व्यवेत्यादि:-व्यवहारेण-श्रमणश्रमणोपासकलक्षणद्विविधेन लिंगेन मोक्षमार्गः इति स्वरूपेण विमूढा-मोहिता दृष्टिर्येषां ते, जनाः-लोकाः परमार्थ-निश्चयं, न कलयंति-न प्राप्नुवंति-न जानंति वा तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात्। अत्र दृष्टांतोपन्यासः-इह-जगति, तुषेत्यादि:-तुषबोधः-तंडुलाच्छादकत्वज्ञानं तेन विमुग्धा सर्वमिदं तुषमेवेति विमुग्धा-विमोहिता बुद्धिर्येषां ते जनाः तुषं-तंडुलाच्छादिकां त्वचं कलयंति-जानंति पुनस्तत्र स्थितं तंडुलं-अक्षतं न जानंति तत्र तस्य परिज्ञानाभावात् वैतालीयनाम छंदः।

षट् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरंतराः। न समात्र पराश्रिता कला वैतालीये रलौ गुरुः॥ १॥

इति छंद उक्तलक्षणसद्भावात्॥ ४९॥ द्रव्यलिंगिना कुतः स्वरूपाप्राप्तिः ? इति चेत्—

अर्थ—जे जन व्यवहारहीविषैं विमूढ मोही है बुद्धि जिनिकी ऐसे हैं ते परमार्थकूं नाहीं जानैं हैं। जैसैं लोकविषैं जे तुसहीके ज्ञानविषैं विमुग्धबुद्धि जन हैं ते तुसहीकूं तंदुल जानैं हैं अर तंदुलकूं तंदुल नाहीं जानैं हैं॥ भावार्थ—जे परमार्थ आत्माका स्वरूप नाहीं जानैं हैं अर व्यवहारविषैं मूढ होय रहे हैं शरीरादि परद्रव्यहीकूं आत्मा जानैं हैं ते परमार्थ आत्माकूं नाहीं जानैं हैं। जैसैं तुष तंडुलका भेद तौ जानैं नाही अर परालकूं कूटैं तिनिकैं तंडुलकी प्राप्ति नहीं। तुस तंडुलका भेदज्ञान भये संतै तंडुल पावै। आगैं इसही अर्थकूं दृढ करनेकूं कहै हैं—

द्रव्यलिंगममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णतां ।
विज्ञानघनमानंदमयमध्यक्षतां नयत् ॥ ५२ ॥

सं० टी०—इदं-अध्यात्मतरंगिणीनाम शास्त्रं, समयसारप्राभृतं वा, एकं-सकलशास्त्रातिशायित्वात् परमात्मस्वरूपप्रकाशकत्वात्, अक्षयं-आचंद्रार्कं शाश्वतं सत्, पूर्णतां-भव्यतां पूर्णतां-संपूर्णतां याति-प्राप्नोति, कीदृशं ? जगच्चक्षुः-जगन्नेत्रं, तत्प्रकाशकत्वात्, पुनः कीदृशं ? विज्ञानघनं-आत्मानं अध्यक्षतां नयत्-प्रापयत्, कीदृशं तं ? आनंदमयं-आत्यंतिकसुखनिर्वृत्तं, इदं शास्त्रं ब्रह्मप्रकाशकत्वात् शब्दब्रह्मायमाणमधीत्योत्तमं सौख्यं विंदति इत्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥ अध्यात्मतत्त्वोपसंहारं रंध्यन्ते—

अर्थ–इदं कहिये यह समयप्राभृत है सो पूर्णताकूं प्राप्त होय है। कैसा ? अक्षय कहिये जाका विनाश न होय ऐसा जगतके अद्वितीय नेत्रसमान है। जातैं कहा करता है ? विज्ञानघन जो शुद्ध परमात्मा समयसार आनंदमय ताकूं प्रत्यक्ष प्राप्त करता संता है ॥ भावार्थ–यह समयप्राभृत ग्रंथ है सो वचनरूप तथा ज्ञानरूप दोऊही प्रकार करि नेत्रसमान है। जातैं जैसें नेत्र घटपटादिककूं प्रत्यक्ष दिखावै हैं तैसें यह शुद्ध आत्माका स्वरूपकूं प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखावै है ॥

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितं ।
अखंडमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितं ॥ ५३ ॥

सं० टी०—इति-उक्तयुक्त्या, ज्ञानमात्रं-ज्ञानमयं, इदं आत्मनस्तत्त्वं-स्वरूपं, अवस्थितं-सुप्रतिष्ठं ज्ञानादपरस्य तत्राभावात् तस्य तन्मयत्वाच्च अन्यथा अचेतनत्वप्रसंगात् अखंडं-परवादिभिः प्रमाणैः खंडयितुमशक्यत्वात्, एकं-कर्मोपाधिनिरपेक्षत्वात्, अचलं-शाश्वतत्वात्, स्वसंवेद्यं-स्वानुभावप्रत्यक्षत्वात् अबाधितं-तत्स्वरूपबाधकस्य प्रमाणस्य कस्य चित्परमाणोश्चासंभवात् ॥ ५३ ॥ अथ स्वरूपनिरूपणानंतरं विशदस्याद्वादविधानवधवादविनोदवेदनाय पातिकापद्यं निगद्यते—

अर्थ–इति कहिये या प्रकार आत्माका तत्त्व कहिये परमार्थभूत स्वरूप ज्ञानमात्र अवस्थित भया निश्चित ठहरया। कैसा है ज्ञानमात्रतत्त्व ? अखंड है अनेक ज्ञेयाकारकरि तथा प्रतिपक्षिकर्मकरि खंड खंड दीखे है, तौऊ ज्ञानमात्रविषै खंड नाही है। बहुरि याहीतैं एकरूप है। बहुरि अचल है। ज्ञानरूपतैं चल न होय अर ज्ञेयरूप नाही है। बहुरि स्वसंवेद्य

तन्निवारणात् तस्य स्वतः शुद्धत्वाच ॥ ५५ ॥ अथ तत्र ज्ञानस्यातदात्मकत्वपराहिवादमनूद्य तत्समाधानसंधानमारभ्यते—

अर्थ-इहां इस अधिकारविषैं स्याद्वादके शुद्धताके अर्थि वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था है सो विचारिये है तथा एकही ज्ञानमैं उपायभाव अर उपेयभाव किछु एक फेरिभी विचारिये है ॥ भावार्थ-यद्यपि इहां ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व कह्या है तथापि वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक अनेक धर्मस्वरूप है, सो स्याद्वादतैं सधै है। सो ज्ञानमात्र आत्माभी वस्तु है, ताकी व्यवस्था स्याद्वादकरि साधिये है। अर इस ज्ञानहीमैं उपायभाव अर उपेयभाव कहिये साध्यसाधकभाव विचारिये है। अब याकी व्यवस्था कहै हैं-स्याद्वाद है सो समस्तवस्तुका साधनेवाला एक निर्बाध अर्हत्सर्वज्ञका शासन है मत है। सो स्याद्वाद सर्ववस्तु अनेकांतात्मक हैं ऐसैं कहै है। जातैं सर्वही वस्तुका अनेकांतात्मक कहिये अनेकधर्मरूप स्वभाव है। असत्यार्थ कल्पनाकरि नाही कहै है। जैसा वस्तुका स्वभाव है तैसाही कहै है॥ सो इहां आत्मा नामा वस्तुकूं ज्ञानमात्रपणाकरि कहते संते स्याद्वादका परिकोप नाही है। ज्ञानमात्र आत्मवस्तुकैभी स्वयमेव अनेकांतात्मकपणा है। सो कैसा है सोही कहै हैं॥ तहां अनेकांतका ऐसा स्वरूप है, जो, जोही वस्तु तत्स्वरूप है, सोही वस्तु अतत्स्वरूप है। बहुरि जोही वस्तु एकस्वरूप है सोही वस्तु अनेकस्वरूप है। बहुरि जोही वस्तु सत्स्वरूप है सोही वस्तु असत्स्वरूप है बहुरि जोही वस्तु नित्यस्वरूप है सोही वस्तु अनित्य स्वरूप है ऐसैं एकवस्तुविषैं वस्तुपणाकी निपजावनहारी परस्परविरुद्ध दोय शक्तिका प्रकाशना सो अनेकांत है। सो ऐसी विरुद्ध दोय शक्ति अपना आत्मवस्तुकै ज्ञानमात्रपणा होतैंभी पाइए है। सोही कहिये हैं। आत्माकै ज्ञानमात्रपणा होतैंभी अतरंगविषैं चिमकता प्रकाशमान् जो ज्ञानस्वरूप ताकरि तौ तत्स्वरूपपणा है। बहुरि बाह्य जेते अनंतज्ञेयभावकूं प्राप्त अर ज्ञानस्वरूपतैं भिन्न जे परद्रव्यनिके रूप, तिनिकरि अतत्स्वरूपपणा है। तिनि स्वरूपज्ञान नाही है॥ बहुरि सहभूत प्रवर्त्तते अर क्रमरूप प्रवर्त्तते जे अनंत चैतन्यके अंश तिनिका समुदायरूप अविभागरूप जो द्रव्यपणा ताकरि तौ एकपणा है बहुरि अविभाग एकद्रव्यविषैं व्याप्त जे सहभूत प्रवर्तते अर क्रमरूप प्रवर्तते चैतन्यके अनंत अंश, तिनिरूप पर्याय, तिनिकरि अनेकपणा है॥ बहुरि अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप होनेकी शक्तीका स्वभावपणाकरि सत्त्वरूप है॥ बहुरि परके द्रव्य क्षेत्र काल भावका होनेकी शक्तीका स्वभावपणाकै अभावकरि असत्त्वस्वरूप है॥ बहुरि अनादिनिधन अविभाग एकवृत्तिरूप जो परिणमन तिसपणाकरि नित्यपणा स्वरूप है॥ बहुरि क्रमकरि प्रवर्तते जे एकसमयपरिणाम अनेकवृत्तीके अंश तिनिकरि परिणमनेपणाकरि अनित्यपणा

परिणमनतें ज्ञाताद्रव्यकूं परद्रव्यपणाकरि अंगीकार करि आत्माका नाश करै है। तिसकाल अपना स्वद्रव्यकरि आत्माका सत्त्वकूं प्रकट करता संता अनेकांत है सोही तिस आत्माकूं जीवावे है नाश नाही होने दे है ॥ ५ ॥ बहुरि जिस काल एकांती है, सो, सर्वद्रव्य हैं ते मै ही हौं, ऐसैं परद्रव्यनिकूं ज्ञाताद्रव्यकरि अंगीकार करि आत्माका नाश करै है, तिस काल, परद्रव्यरूप आत्मा नाही है, ऐसैं परद्रव्यकरि आत्माका असत्त्वकूं प्रकट करता संता अनेकांतही नाश करने नाही दे है ॥ ६ ॥ बहुरि परक्षेत्रविर्षे प्राप्त जे ज्ञेय पदार्थ तिनिके आकार तिनिसारिखा परिणमनेतें परक्षेत्रहीकरि ज्ञानकूं सद्रूप अंगीकार करि एकांती नाशकूं प्राप्त करै है, तिस काल अपना क्षेत्रकरि अस्तित्वकूं प्रकट करता संता अनेकांतही जीवावे है, नाश नाही होने दे है ॥ ७ ॥ बहुरि अपने क्षेत्रविर्षे होनेके अर्थि परक्षेत्रविर्षे प्राप्त जे ज्ञेय तिनिका आकार ज्ञानका होना ताका त्यागकरि ज्ञानकूं ज्ञेयाकाररहित तुच्छ करता संता एकांती आत्माका नाश करै है तिस काल अनेकांत है सो ज्ञानकै अपना क्षेत्रविर्षे परक्षेत्रविर्षे प्राप्त जे ज्ञेय तिनिके आकाररूप परिणमनेका स्वभावपणा है, ऐसैं परक्षेत्रकरि नास्तिपणाकूं प्रगट करता संता नाश करने न दे है ॥ ८ ॥ बहुरि जिस काल पूर्वे आलंबे थे ज्ञेय पदार्थ तिनिका विनाशका कालविर्षे ज्ञानका असत्त्वकूं अंगीकार करि एकांती ज्ञानकूं नाशकूं प्राप्त करै है, तिस काल अपना ज्ञानहीका कालकरि अज्ञानका सत्त्वकूं प्रगट करता संता अनेकांतही ज्ञानकूं जीवावे है, नाश न होने दे है ॥९॥ बहुरि जिस काल अर्थका आलंबनका कालहीविर्षे ज्ञानका सत्त्वकूं ग्रहणकरि एकांती आत्माका नाश करै है तिस काल परके कालकरि असत्त्वकूं प्रकट करता संता अनेकांतही नाश होने न दे है ॥१०॥ बहुरि जिस काल ज्ञायमान जाननेमैं आवता जो परभाव ताके परिणमनके आकार दीखता जो ज्ञायकभाव ताकूं परभावकरि ग्रहणकरि अर ज्ञानभावकूं एकांती नाशकूं प्राप्त करै है, तिस काल स्वभावकरि ज्ञानका सत्त्वकूं प्रकट करता संता अनेकांतही ज्ञानकूं जीवावे है नाश न होने दे है ॥ ११ ॥बहुरि जिस काल एकांती है सो ऐसा मनावै है 'जो सर्व भाव हैं ते मै हौं' ऐसैं परभावकूं ज्ञायकपणाकरि अंगीकार करि, अर आत्माका नाश करै है, तिस काल परभावनिकरि ज्ञानका असत्त्वकूं प्रकट करता संता अनेकांत है सोही आत्माका नाश न होने दे है ॥ १२ ॥ बहुरि जिस काल अनित्य जे ज्ञानके विशेष तिनिकरि खंडित भया जो नित्यज्ञानसामान्य, सो नाशकूं प्राप्त होय है ऐसा एकांत स्थापै, तिस काल ज्ञानका सामान्यरूपकरि नित्यपणाकूं प्रकट करता संता अनेकांत है सोही नाश करने न दे है ॥ १३ ॥ बहुरि जिसकाल नित्य जो ज्ञानसामान्य

ऽपि एकज्ञानद्रव्यतया अविचित्रतां-एकस्वरूपतां, उपगतं-प्राप्तं, अतः कथंचिदेकं द्रव्यार्पणात्, कथंचिदनेकं पर्यायार्पणात् ॥५८॥
अथ परद्रव्यास्तित्वग्रस्तं ज्ञानं निराकृत्य स्वास्तित्वास्तित्वमागम्यते-

अर्थ-एशु अज्ञानी सर्वथा एकांतवादी है सो ज्ञेयनिके आकारनिकरि कलंककरि अनेकाकाररूप मलिन जो चैतन्य ताविर्षे एक चैतन्यका मात्र आकार करनेकी इच्छा करि प्रक्षालन कहिये धोवना कल्पता संता ज्ञान अनेकाकार प्रकट है तौऊ ताकूं नाहीं मानै है एकाकारही मानि ज्ञानका अभाव करै है । बहुरि अनेकांतका जाननेवाला है सो ज्ञेयाकारकरि ज्ञानका विचित्रपणा है तौऊ एकपणाकूं प्राप्त ज्ञान है सो आप स्वयमेव प्रक्षाल्या हुवा शुद्ध है, एकाकार है अर पर्यायनिकरि ताके अनेकताकूं अनुभवै है ॥ भावार्थ-एकांतवादी तौ ज्ञानविर्षे ज्ञेयाकारकूं मैल जाणि एकाकार करनेकूं ज्ञेयाकारकूं धोय दूरि करी ज्ञानका नाश करै है । बहुरि अनेकांती ज्ञानकूं स्वरूपकरि अनेकाकार पणा मानै है । सो ऐसा वस्तुस्वभाव है सो सत्यार्थ है ऐसा अनेकस्वरूप भंग है ॥

विशेष-इस श्लोकमें ज्ञानको कथंचित् एकाकार और कथंचित् अनेकाकार बतलाया है यहांपर यह शंका करना अनुचित है कि यदि ज्ञान पर्यायोंकी अपेक्षा अनेकाकार है तो पर्यायोंके अशुद्ध होनेसे ज्ञानभी अशुद्ध होगा ? क्योंकि यह ज्ञान स्वभावसे ही निर्मल है वह अशुद्ध नहिं हो सकता। यदि कहो ज्ञानका विषय समस्त जगत है और वह विचित्र-अनेकाकार है इसलिये ज्ञानकोभी सर्वथा अनेकाकार ही मानलेना चाहिये सो ठीक नहीं क्योंकि उसकी ज्ञानद्रव्य एक ही है इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वह एक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनेक है ॥ ५८ ॥

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावंचितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ॥ ५९ ॥

ण सदिति प्रतिपद्यमानः कश्चित् नश्यति स्वपक्षाक्षेपं लक्षयति-परितः-सामस्त्येन स्वेत्यादिः-
द्रवत् स्वगुणपर्यायान् इति द्रव्यं, तस्यानवलोकनेन-स्वामित्वानीक्षमाणेन शून्यः, पुनः

चेतनेतरवस्तुमयं प्रपञ्च-अंगीकृत्य, तदभ्युपगमे वेदवाक्यं-"पुरुष एवेदं यद्भूतं यच्च भाव्यं स एव हि सकललोकप्रलयस्थितिहेतुरिति" सर्वेषां प्रतिभासमानत्वेन प्रतिभासांतःप्रविष्टत्वं तस्यैकत्वे घटपटलकुटमुकुटशकटादीनां भेदस्तु दुर्वासनावासितः दुर्वासनया अविद्यया सदसन्नित्यानित्यैकानेकादिरूपेण प्रतिभासमानया वासितः-कल्पितः इति वदन् अद्वैतदुर्वासनावासितः दुर्वासनया-अनादिकालभूतमहामोहाख्ययाऽविद्यया वासितः-वासनाविषयीकृतः। स्याद्वादी तु समस्तवस्तुसर्वपदार्थेषु स्वद्रव्यमेव स्वद्रव्येणास्तित्वमेव आश्रयेत्-भजेत्। किंकुर्वन्? तेषु परद्रव्यात्मना-पररूपेण नास्तितां जानन् प्रमाणबलान्नास्तित्वमभ्युपगच्छन्, कीदृशः सः? निर्मलेत्यादिः-निर्मलः-द्रव्यमलकलंकरहितः, शुद्धः-भावकर्मविकलः, स चासौ बोधश्च तेन महिमा-माहात्म्यं यस्य सः॥ ६०॥ अथ परक्षेत्रास्तित्वं निराकुर्वन् स्वक्षेत्रास्तित्वं स्तुवति—

अर्थ—पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो पुरुष जो आत्मा ताकूं सर्वद्रव्यमयी एक कल्पिकरि अर कुनयकी वासनाकरि वासित हुवा प्रकट परद्रव्यविषैं स्वद्रव्यका भ्रमकरि विश्राम करै है। बहुरि स्याद्वादी है सो समस्तही वस्तुविषैं परद्रव्यस्वरूप करि नास्तिताकूं जानता संता निर्मल है शुद्धज्ञानकी महिमा जाकी ऐसा हुवा स्वद्रव्यहीकूं आश्रय करै है॥

भावार्थ—एकांतवादी तौ सर्वद्रव्यमय एक आत्माकूं मानि परद्रव्य अपेक्षा नास्तिता है ताका लोप करै है। अर स्याद्वादी समस्तविषैं परद्रव्य अपेक्षा नास्तिता मानि अपना निजद्रव्यमें रमै है। यह परद्रव्य अपेक्षा नास्तिताका भंग है॥

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन् पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन्॥ ६१॥

सं० टी०-कश्चिन्नैयायिकादिः पशुः-अज्ञानी, सीदत्येव-स्वस्थित्यभावाद्विनाशं यात्येव। किंकुर्वन्? अभितः-समंतात् बहिः पतंतं-स्वक्षेत्रान्परक्षेत्रे पतंतं, पुमांसं-आत्मानं, पश्यन्-अवलोकयन्, सदा-नित्यं आत्मनः व्यापकत्वांगीकारात्, कीदृशः सः? भिन्नेत्यादिः-भिन्नं च तत् क्षेत्रं तत्र निषण्णं-वर्तमानं तच्च तद्बोध्यं-ज्ञातुं योग्यं द्रव्यं च तत्र नियतः-निश्चितः, व्यापारः सन्निकर्षादिक्रिया-आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इंद्रियेण, इंद्रियं अर्थेन इंद्रियाणां प्राप्यकारित्वनियमात् इतिसान्निकर्षादिव्यापारः बोध्यदेशगमनलक्षणः तत्र निष्ठः, तत्पक्षावलंबी स्वस्थव्यवस्थानाभावात्सीदत्येव। स्याद्वादवेदी पुनः कथं तिष्ठति? स्वेत्यादिः-स्वस्य

क्षेत्रे अस्तिता-अस्तित्वं तया निरुद्धरभसः सन्निकर्षादीनां निरुद्धो रभसः-वेगः, येन सः, प्रमाणपरीक्षादौ सन्निकर्षस्य गतादावतिप्रसंगेन दूषितत्वात्। नायनसन्निकर्षस्य घटरूपयोः समवेतयोः सद्भावे समवेतयोर्घटरसयोः स कथं न स्यात् इति निरस्तत्वात्। तर्हि क्वचिदपि बोध्ये आत्मनो व्यापित्वं न स्यात् इति वदंतं प्रति स्याद्वादवादी कीदृक्षो भवंस्तिष्ठति ? आत्मेत्यादिः-आत्मनि स्वस्मिन् निखातं व्यवस्थितं तच्च यद्बोध्यं च स्वरूपलक्षणं बोध्यमित्यर्थः तत्र नियता-निश्चिता व्यापारशक्तिः, येन स ईदृक्षो भवन् सन् ॥ ६१ ॥ अथ परक्षेत्रे नास्तित्वाभावं वदंतं प्रति परक्षेत्रे नास्तित्वं फणति—

अर्थ—पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो भिन्नक्षेत्रविषैं तिष्ठ्या जे ज्ञेयपदार्थ तिनिविषैं ज्ञेयज्ञायकसंबंधरूप निश्चितव्यापारविषैं तिष्ठ्या संता पुरुषकूं समस्तपणे बाह्यज्ञेयनिविषैंही पडता संता ताकूं देखता संता कष्टहीकूं प्राप्त होय है। बहुरि स्याद्वादका जाननेवाला है सो अपने क्षेत्रविषैं अपना अस्तिपणाकरि रोक्या है अपना रभस ज्यानैं ऐसा भया संता आत्माहीविषैं आकाररूप भये जे ज्ञेय तिनिका निश्चितव्यापारकी शक्तिरूप होता संता अपने क्षेत्रहीविषैं अस्तित्वरूप तिष्ठै है ॥ भावार्थ—एकांतवादी तौ भिन्नक्षेत्रविषैं ज्ञेय पदार्थ तिष्ठै हैं तिनिके जाननेके व्यापाररूप होता पुरुषको बाह्य पडताही मानि नष्ट करै है। बहुरि स्याद्वादी अपना क्षेत्रविषैंही तिष्ठ्या पुरुष अन्यक्षेत्रविषैं तिष्ठते ज्ञेयनिकूं जानता संता अपने क्षेत्रहीविषैं अस्तित्वकूं धारै है, ऐसा मानता संता आत्माहीविषैं तिष्ठै है। यह स्वक्षेत्रविषैं अस्तित्वका भंग है।

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झना-
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥ ६२ ॥

सं° टी°—पशुः कश्चिदज्ञानी प्रणश्यति-स्वक्षयं नयति, किंकृत्वा ? पृथगित्यादिः पृथग्,-भिन्नं, विधिः-प्रयोजनं येषां ते ते च ते परक्षेत्रे-स्वक्षेत्रादपरक्षेत्रे, स्थितार्थाश्च तेषां उज्झनं-परिहरणं तस्मात् तुच्छीभूय-निस्स्वभावं भूत्वा, किमर्थं ? स्वक्षेत्रे स्थितये-स्वक्षेत्रे भवनाय। स्याद्वादी तु पुनः परान् परिच्छेद्यपदार्थान्, आकारकर्षी -आकारग्राही सन्, न तुच्छतां-न तुच्छभावतां, अनुभवति। ननु पराकारकर्षी स्याद्वादिबोधः परार्थग्राही स्यादित्याशंकायामाह-त्यक्तार्थोऽपि त्यक्तपरद्रव्योऽपि परिच्छिनत्ति। त्यक्तार्थत्वं कथं ? परक्षेत्रे स्वक्षेत्रादपरक्षेत्रे नास्तितां वदन्-प्रतिपादयन्। ननु परक्षेत्र इव स्वक्षेत्रे मास्त्विति चेन्न यतः

आस्ते। किंकुर्वन्? अस्य-ज्ञानस्य, निजकालतः-स्वकालतः, अस्तित्वं कलयन्. किंकृत्वा? मुहुः-पुनः, बाह्यवस्तुषु-बहिःपदार्थेषु, भूत्वा-तद्ग्राहकस्वरूपेणोत्पद्य, कीदृशेषु तेषु? विनश्यत्स्वपि-पर्यायापेक्षया प्रतिक्षणं विनाशं गच्छत्सु, अपिशब्दात् द्रव्यादेशादविनश्यत्सु। बाह्यपदार्थेषु विनश्यत्स्वपि, ज्ञानं न विनश्यति स्वकाले सत्त्वात् ॥६३॥ अथ परकाले नास्तित्वमाविर्भूते

अर्थ–पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो पूर्वकालमैं आलंबे जे ज्ञेयपदार्थ तिनिका नाश होनेके समयविषैं ज्ञानकाभी नाशकूं जानता संता किछूभी नाही जानता संता तुच्छ भया नाशकूं प्राप्त होय है। बहुरि स्याद्वादका वेदी है सो इस आत्माका अपने कालतैं अस्तित्वकूं जानता संता बाह्यवस्तु वारंवार होयकरि नष्ट होते संतेभी आप पूर्णही तिष्ठै है ॥ भावार्थ–पहिले ज्ञेय पदार्थ जाने थे उत्तरकालमैं विनसि गये तिनिकूं देखि एकांती अपना ज्ञानकाभी नाश मानि अज्ञानी हुवा आत्माका नाश करै है। बहुरि स्याद्वादी ज्ञेयपदर्थनिकूं नष्ट होतैंभी अपना अस्तित्व अपनाही कालतैं मानता नष्ट न होय है ॥ यह स्वकालअपेक्षा अस्तित्वका भंग है ॥

अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि–
ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुंजीभवन् ॥ ६४ ॥

सं० टी०—पशुः-कश्चिदज्ञानी, परकाले वस्तुनोऽस्तित्ववादी नश्यति-स्वपक्षक्षयेण स्वयं क्षयं याति। कीदृक्षः सन्? मनसा-चित्तेन कृत्वा भ्राम्यन्-अन्यथार्थस्यान्यथार्थकल्पनया भ्रमं गच्छन्, कीदृशेन तेन? बहिरित्यादिः-बहिर्ज्ञेयं-बाह्याचेतनादिद्रव्यं तदेवालंबनं-अवलंबनं तत्र लालसं यत्तेन, पुनः कीदृक्षः सः? अर्थेत्यादिः-अर्थस्य-ज्ञेयस्य आलंबनं तदुत्पत्त्यादिवशादवलंबनं तस्य काले-समये एव ज्ञानस्य सत्त्वं-अस्तित्वं, कलयन्-अंगीकुर्वन् तदुक्तं तन्मते—

अर्थस्यासंभवे भावात्प्रत्यक्षे च प्रमाणता। प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयं ॥ इति ॥

अर्थालंबनलक्षणे परकाले सत्त्वे सर्वदा सत्त्वप्रसंगात्। स्याद्वादवेदी पुनः अस्य-ज्ञानस्य परकालतः-परकालेन, नास्तित्वं-असत्त्वं कलयन्-अंगीकुर्वन्, तिष्ठति-आस्ते, ननु यथा परकालेन नास्तित्वं स्याद्वादिनां तथा स्वकालेऽपि तदस्तु इति चेन्न यतः

आत्मेत्यादिः-आत्मनि-चिद्रूपे, निखातं-आरोपितं तच्च तन्नित्यं-द्रव्यरूपतया शाश्वतं, सहजज्ञानं च चिद्रूपस्य शाश्वतिकत्वे ज्ञानस्यापि शाश्वतिकत्वात् तत्काले तस्य सद्भावः तस्य एकपुंजीभवन्-अद्वितीयसमूहः सन् ॥ ६४ ॥ अथ स्वभावास्तित्वम-नुभूयते—

अर्थ-पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो ज्ञेयपदार्थके आलंबनकालही ज्ञानका अस्तित्व जानता संता बाह्यज्ञेयका आलंबनविषैं चित्तकूं अनुरागसहित करि अर बाह्य भ्रमता संता नाशकूं प्राप्त होय है। बहुरि स्याद्वादका वेदी है सो परकालतैं अपना आत्माका नास्तित्वकूं जानता संता आत्माविषैं उकिरया जो नित्य स्वाभाविक ज्ञानपुंज तिस स्वरूप होता संता तिष्ठै है नष्ट न होय है ॥ भावार्थ-एकांती तौ ज्ञेयके आलंबनके कालही ज्ञानका सत्त्व जानै है सो ज्ञेयके आलंबनविषैं मन लगाय बाह्य भ्रमता संता नष्ट होय है। बहुरि स्याद्वादी ज्ञेयके कालतैं अपना अस्तित्व नाही जानै है, अपनेही कालतैं अपना अस्तित्व जानै है। तातैं ज्ञेयतैं न्याराही अपना ज्ञानका पुंजरूप होता नष्ट न होय है ॥ यह परकाल अपेक्षा नास्तित्वका भंग है ॥

विश्रांतः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकांतनिश्चेतनः।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥ ६५ ॥

सं० टी०—पशुः परभावेनात्मानं मन्यमानः कश्चिद्ज्ञाता, नश्यत्येव कीदृशः ? नित्यं-निरंतरं बहिर्वस्तुषु-नीलादिज्ञेयलक्षणेषु, विश्रांतः-स्थितः, कुतः ? परेत्यादिः-परे च ते भावाश्च नीलपीतादयस्तेषां भावः-स्वभावः, तस्य कलना-ग्रहणं,-आत्मसात्करणं तस्मात्। स्याद्वादवेदी तु न नाशमेति-विनाशं न प्राप्नोति। कीदृशः ? सहजेत्यादिः सहजः-स्वाभाविकः स्पष्टीकृतः प्रत्ययः-ज्ञानं, येन सः, स्वस्वभावनियतत्वात् सर्वस्माद् ज्ञेयाद्विभक्तः-भिन्नः, भवन्-सन् परभावस्वभावग्राहकत्वाभावात्। कुतः ? नियतेत्यादिः नियतः-निश्चितः, स्वभावः-चैतन्यादिस्वरूपं, तेन भवनं यस्य तच्च तज्ज्ञानं च तस्माद्, कीदृशः सः ? स्वेत्यादिः-स्वस्य भावः प-र्यायः, ज्ञानादिलक्षणः, तस्य महिमा-माहात्म्यं यत्र तस्मिन्नात्मनि, एकांतेत्यादिः एकांतात्-सर्वथास्तित्वनास्तित्वादेः निर्गतं चेतनं-ज्ञानं, यस्य सः, आत्मनि एकांतज्ञानाभावात् अनेकांतज्ञानं ॥६५॥ अथापरपर्यायपरं ज्ञानं निषेधयन् परस्वरूपेण सदित्युद्घाटयति-

अर्थ–पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो परभावकूंही अपना भाव जाननेतैं बाह्यवस्तुनिविषैं विश्राम करता संता अपना स्वभावकी महिमाविषैं एकांतकरि निश्चेतन भया जड होता संता आप नाशकूं प्राप्त होय है। बहुरि स्याद्वादी है सो सर्वही वस्तुविषैं अपना निश्चित नियमरूप जो स्वभावभावका भवनस्वरूप ज्ञान तातैं सर्वतैं न्यारा होता संता सहजस्वभावका स्पष्ट प्रत्यक्ष अनुभवरूप कीया है प्रत्यय कहिये प्रतीतिरूप जानपना जानैं ऐसा भया नाशकूं नाही प्राप्त होय है भावार्थ–एकांती तौ परभावकूं निजभाव जानि बाह्यवस्तूविषैं विश्राम करता संता आत्माका नाश करै है। बहुरि स्याद्वादी अपना ज्ञानभाव यद्यपि ज्ञेयाकार होय है, तथापि ज्ञानहीकूं आपना भाव जानता संता आपाका नाश नाही करै है॥ यह अपना भावकी अपेक्षा अस्तित्वका भंग है॥

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरादारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कंपितः॥

सं० टी०—सर्वभावमयं पुरुषं कल्पयन् पशुः-कश्चिदज्ञानी, स्वैरं-स्वेच्छया,-यमनियमासनाद्यभावात्, क्रीडति-विहरति इतस्ततः। कीदृक्षः? गतभयः-गतः-नष्टः, भयः-इहपरलोकादिलक्षणो यस्य सः, सर्वस्य ब्रह्ममयत्वादिहपरलोकाद्यभावः, पुनः सर्वत्रापि-निषिद्धानुष्ठानेऽपि अनिवारितः अलाबूनि मज्जंति। ग्रावाणः प्लवंते, अंधो मणिमविंदत् तमनंगुलिरावतत् उत्ताना वै देवगावो वहंतीत्यादीनां वेदवाक्यानां पूर्वापरविरुद्धानां मातृगमनादिप्ररूपकानां च सद्भावान्न तेषां कश्चिन्निवारकः। पुनः शुद्धेत्यादिः-शुद्धस्वभावे च्युतः शुभाशुभपर्यायमयत्वात्, किंकृत्वा? आत्मनि-चिद्रूपे, सर्वेत्यादिः-सर्वभावानां-समस्तस्वभावानां, भवनं-अस्तित्वं, अध्यास्य-अध्यारोप्य। स्याद्वादी तु विशुद्ध एव-निर्मलस्वज्ञाननियत एव लसति विलासं करोति दृष्टेष्टविरोधाभावात्। कीदृक्षः? भरात्-अतिशयेन, स्वस्य-आत्मनः, स्वभावं-स्वरूपं, आरूढः-विश्रांतः, स्वभावेन सत्वात् तर्हि परस्वभावेनाप्यस्तु तन्निवारणार्थमाह-परेत्यादि-परे च ते भावाश्च चेतनाचेतनादयश्च तेषां भावाः पर्यायाः रागद्वेषनीलपीतादयः तेषां विरहेण-अभावेन, व्यालोकः-स्वतत्त्वावलोकनं तेन निष्कंपितः-निश्चलः, प्रमाणप्रसिद्धत्वात्॥ ६६॥ अथ सर्वस्य क्षणभंगाभोगभंगिसंगतस्य तत्त्वस्य निरसनव्यसनं नित्यत्वं पणायते—

अर्थ–पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो अपने आत्माविषैं सर्वज्ञेयपदार्थनिका होना निश्चय करि अर शुद्धज्ञानस्वभावतैं च्युत भया संता सर्वपदार्थनिविषैं निःशंक वर्जनारहित स्वेच्छाचारी भया क्रीडा करै है। अपना भावका लोप

क्षण भंगकी संगतीवत् आपका नाश करै है । बहुरि स्याद्वादी है सो ज्ञान ज्ञेयकी साथि उपजै विनशै है तौऊ चैतन्य-भावका नित्य उदय अनुभवता संता ज्ञानी होता जीवै है आपका नाश नाहीं करै है यह. नित्यपणाका भंग हैं ।

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया वांछत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किंचन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेप्यासादयत्युज्ज्वलं स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात्

सं० टी०—पशुः-कश्चिन्नित्यैकांतवादी शठः, किंचनापि-किमपि ज्ञानं भिन्नं-पृथक्, वांछति-ईहते, कुतः ? उच्छलदित्यादिः उद्-ऊर्ध्वमुच्छलंती, अच्छा-निर्मला, सा चासौ चित्परिणतिश्च चित्पर्यायः तस्याः, पर्यायपर्यायिणोः परस्परं भेदात् ज्ञानस्य नित्यत्वं, कया ? टंकोदित्यादिः-टंकेनोत्कीर्णः पर्यायाभावात् नित्यत्वात् स चासौ विशुद्धश्च पूर्वापरविवर्तकालिकाविकलत्वात् स चासौ बोधश्च तस्य विसरः-नियहः, स एवाकारः तेनोपलक्षितं आत्मतत्त्वं तस्य वांछा-नित्यत्वात्मज्ञानाकांक्षा तया। स्याद्वादी स्यात्-कथंचिच्छब्देनोपलक्षितो वादः-जल्पनं, विद्यते यस्य सः, वस्तुनस्तथात्वात् तथा कांक्षायाः समुत्पत्तेः, तथा विवक्षायाः सद्भावात् 'अनेकांतात्मकं सर्वं एकांतस्वरूपानुपलब्धेरित्यनेकांतवादी ज्ञानं नित्यं-पूर्वापरावग्रहेहादिषु व्याप्तज्ञानत्वसामान्येन स्यान्नित्यं, आसादयति-प्राप्नोति, कीदृक्षं ? उज्ज्वलं-अवदातं, अनित्यतापरिगमेऽपि-वस्तुनोऽनित्यतापरिज्ञाने अपि[illegible] केवलं नित्यमेव अनित्यतापरिज्ञाने सत्यपि, नन्वनित्यतापरिज्ञानमात्रवस्तुशुक्तिकायां रजतपरिज्ञानवन्न पुनस्तथा वस्तुनः प्राप्तिरिति तदपि स्वमनोरथमात्रं यतः अनित्यतां वस्तुगतानित्यत्वं परिमृशन् अर्थक्रिययोपलभमानः, कुतः ? चिदित्यादिः चिद्वस्तुनः-चेतनारूपवस्तुपर्यायस्य वृत्तिः-वर्तना तस्याः क्रमात्-अनुक्रमात्, ॥ ६८ ॥ अथानेकांतमतव्यवस्था सुघटेति संजाघटीति इति पद्यद्वयेन–

अर्थ–पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो टंकोत्कीर्ण निर्मलज्ञानका फैलावरूप एक आकार जो आत्मतत्त्व, ताकी आशा-करि अर आपविषैं उछलती जो निर्मल चैतन्यकी परिणति, तासैं न्यारा किछु आत्माकूं चाहै है । सो किछु है नाहीं ॥ बहुरि स्याद्वादी है सो नित्यज्ञान हुए सो अनित्यताकूं प्राप्त होतैंभी उज्वल देदीप्यमान चैतन्यवस्तुकी प्रवृत्तिके क्रमतैं ज्ञानके अनित्यताकूं अनुभवता संता ज्ञानकूं अंगीकार करै है ॥ भावार्थ–एकांती तौ ज्ञानकूं एकाकार नित्य ग्रहण करनेकी वांछा करि अर ज्ञानचैतन्यकी परिणति उपजै विनशै है तातैं भिन्न किछु मानै है, सो परिणामसिवाय परिणामी किछु न्यारा ही है नाही ॥ बहुरि स्याद्वादी है सो यद्यपि ज्ञान नित्य है, तौऊ चैतन्यकी परिणति क्रमतैं उपजै विनशै है,

ताके क्रमतैं ज्ञानकी अनित्यता मानै है, वस्तुस्वभाव ऐसाही है, यह अनित्यपणाका भंग है ॥ अब कहै है, जो, ऐसा अनेकांत है, सो जे अज्ञानकरि मोही मूढ हैं, तिनिकूं आत्मतत्त्वकूं ज्ञानमात्र साधता संता स्वयमेव अनुभवनमें आवै है ॥

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकांतः स्वयमेवानुभूयते ॥ ६९ ॥

सं० टी०—इति अमुना प्रकारेण, स्वयमेव स्वयं प्रकाशमानस्याद्विरूपेण, आत्मोकाशुपायेन च आत्मतत्त्वं आत्मस्वरूपं अनेकांतः स्याद्विधामिश्रसत्त्वासत्त्वैकानेकत्वनित्यत्वानित्यत्वादयः अनुभूयते स्वानुभवप्रत्यक्षीक्रियते, किं कुर्वन्? अज्ञाने या-दिः अज्ञानेन अनादिकालविजृंभितमोहाज्ञानेन विमूढानां मोहितानां, ज्ञानमात्रं ज्ञानसाकल्यं, प्रसाधयन् स्वरूपप्रकाशनादिनि-दर्शयन् ॥ ६९ ॥

अर्थ-ऐसे पूर्वोक्तप्रकार अनेकांत है सो जे अज्ञानकरि प्राणी मूढ भये हैं, तिनिकूं समझावनेकूं आत्मतत्त्व हूं ज्ञान-मात्र साधता संता आपै आप अनुभवगोचर होय है ॥ भावार्थ-अनादिकालके प्राणी स्वयमेव तथा एकांतवादका उपदेशकरि आत्मतत्त्वकूं ज्ञानका अनुभवनतैं अनेक प्रकार पक्षपातकरि आत्माका नाश करै है । तिनिकूं समझावनेकूं आत्माका स्वरूप ज्ञानमात्रही कहिकरि, अर तिसकूं अनेकांतस्वरूप प्रकटकरि स्याद्वादतैं दिखाया है, सो यह अन्यकल्पना नाही है । ज्ञानमात्र वस्तु अनेकधर्मसहित आपै आप अनुभवगोचर प्रत्यक्ष प्रतिभासमें आवै है । सो प्रवीण पुरुष अपना आपाकी तरफ देखि अनुभवकरि देखो । ज्ञान तत्स्वरूप अतत्स्वरूप, एकस्वरूप अनेकस्वरूप, अपने द्रव्य-क्षेत्रकालभावतैं सत्स्वरूप नित्यस्वरूप परके क्षेत्र काल भावतैं असत्स्वरूप अनित्यस्वरूप, इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवगोचरकरि अनेकधर्मस्वरूप प्रतीतीमें ल्यावो । यहही सम्यग्ज्ञान है । सर्वथा एकांत मानै मिथ्याज्ञान है, ऐसा जानना ॥ अब अनेकांतकी महिमा करै है-

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयं ।
अलंघ्यशासनं जैनमनेकांतो व्यवस्थितः ॥ ७० ॥

सं० टी०—अनेकांतः कथंचिद्धर्मः, व्यवस्थितः, प्रमाणनयोपन्यासैः सुप्रतिष्ठः, कया? एवमित्यादिः एवमुक्तप्रकारेण पूर्व

मयीपणाकूं नाही छोडै है सो चैतन्य आतमा द्रव्यपर्यायमयी इस लोकमैं वस्तु है । कैसा है ? क्रमरूप अक्रमरूप विशेष वर्तनेवाले जे विवर्त कहिये परिणमनके विकाररूप अवस्था तिनिकरि चित्र कहिये नानाप्रकार होय प्रवर्त्तै है ॥ भावार्थ–कोई जानेगा की ज्ञानमात्र कह्या सो आतमा एकस्वरूप ही है सो ऐसैं नाही है । वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायमयी है, अर चैतन्य भी वस्तु है, सो अनंतशक्तिकरि भरया है । सो क्रमरूप अर अक्रमरूप अनेक परिणामके विकारनिका समूहरूप अनेकाकार होय है । अर ज्ञान असाधारण भाव है । ताकूं नाही छोडै है। सर्व अवस्था परिणामपर्यायी हैं ते ज्ञानमय हैं । अब इस अनेकस्वरूप वस्तूकूं जे जानै हैं श्रद्धै हैं, अनुभवैं हैं तिनिके वडाईके अर्थ कलशरूप काव्य कहै हैं—

नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयंतः ।
स्याद्वादशुद्धमधिकामधिगम्य संतो ज्ञानीभवंति जिननीतिमलंघयंतः ॥ ७२ ॥

सं० टी०—संतः-सत्पुरुषाः, ज्ञानीभवंति-संसारवर्ति अज्ञानं ज्ञानं भवंतीति ज्ञानीभवंति, किंकृत्वा ? इति-पूर्वोक्तप्रकारेण, स्याद्वादशुद्धिं-अनेकांतशुद्धिं, अधिकां-विचारतः प्रकर्षप्राप्तां, अधिगम्य-ज्ञात्वा, निश्चित्य वा । कीदृक्षास्ते ? स्वयमेव-स्वात्मना कृत्वा, वस्त्वित्यादिः-वस्तुनः तत्त्वं-स्वरूपं-अनेकांतात्मकं तस्य व्यवस्थितिः-व्यवस्था, तां प्रविलोकयंतः-ईक्षमाणाः, कया ? नैकांतेत्यदिः-न एकांतो नैकांतः-स्याद्वादः, क्वचिदस्य नाकादिमध्यपाठान्न नकारलोपः तत्र संगता-सम्यक् प्राप्ता दृक् दृष्टिः, तया, पुनः कीदृक्षाः ? जिननीतिं-सर्वज्ञप्रकाशितमार्गं, अलंघयंतः-अनुल्लंघयंतः ॥ ७२ अथास्योपायोपेयभावः संभाव्यते—

अर्थ–वस्तु है सो स्वयमेव आपै आप अनेकांतात्मक है ऐसैं वस्तुतत्त्वकी व्यवस्थाकूं अनेकांतविषैं संगत कहिये प्राप्तकरि जो दृष्टि ताकरि विलोकते देखते संते सत्पुरुष हैं सो स्याद्वादकी अधिकशुद्धीकूं अंगीकारकरिकै अर ज्ञानी होय हैं । कैसे भये संते ? जिनेश्वर देवका स्याद्वादन्याय ताकूं नाहीं उल्लंघन करते हैं ॥ भावार्थ–जे सत्पुरुष अनेकांतकूं लगाई दृष्टिकरि ऐसे अनेकांतरूप वस्तुतत्त्वकी मर्यादाकूं देखते हैं, ते स्याद्वादकी शुद्धिकूं पायकरि ज्ञानी होय हैं । अर जिनदेवके स्याद्वादन्यायकूं नाही उलंघैं हैं । स्याद्वाद न्याय जैसैं वस्तु तैसैं कहै है । असतकल्पना नाही करै है ॥ ऐसैं स्याद्वादका अधिकार पूर्ण कीया ॥ अब ज्ञानमात्रभावके उपाय अर उपेय ए दोऊ भाव विचारिये है—

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकंपां भूमिं श्रयंति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमंति ॥ ७३ ॥

सं॰ टी॰—ये-साधवः-कथमपि- केनापि प्रकारेण, महता कष्टेन वा ज्ञानेत्यादिः-ज्ञानमात्रः-ज्ञानेन साकल्यः, स चासौ निजभावश्च स्वात्मपरिणामः, तेन निर्वृत्तां-भूमिं शुद्धोपयोगभूमिं, श्रयंति-भजंते, कीदृशां तां ? अकंपां-निश्चलां, अपनीतमोहाः अपनीतः-निराकृतः, मोहः रागद्वेषाज्ञानादिर्यैः ते योगिनः, साधकत्वं रत्नत्रयादिलक्षणमुपायत्वं, अधिगम्य-आश्रित्य, सिद्धाः, उपेयाः-साध्याः, भवंति-जायंते, आत्मनो ज्ञानमात्रत्वे उपायोपेयभावो विद्यत एव तस्यैकस्यापि स्वयंसाधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात् । मूढाः-अज्ञानिनस्तु अमूं-अंतर्नीतानेकांतज्ञानमात्रैकभावरूपां भूमिं, अनुपलभ्य-अप्राप्य परिभ्रमंति संसारापारभूमिमंडलीमाक्रमंते ॥ ७३ ॥ अथ शुद्धोपयोगभूमिप्राप्युपायं लक्षयति—

अर्थ–जे भव्यपुरुष कोई प्रकारकरी कैसेही दूरी भया है मोह अज्ञान मिथ्यात्व जिनिका ऐसे हैं, ते ज्ञानमात्र निजभावमयी निश्चलभूमिकाकूं आश्रय करै हैं। ते पुरुष साधकपणाकूं अंगीकारकरि सिद्ध होय हैं। बहुरि जे मूढ मोही अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं, ते इस भूमिकाकूं न पाय अर संसारमें भ्रमै हैं। भावार्थ–जे पुरुष गुरुके उपदेशतैं तथा स्वयमेव काललब्धीकूं पाय मिथ्यात्वसूं रहित होय हैं ते ज्ञानमात्र अपना स्वरूपकूं पाय साधक होय, सिद्ध होय हैं अर ज्ञानमात्र आत्माकूं नाही पावै हैं, ते, संसारमें भ्रमै हैं ॥ अब कहै हैं, जो वह भूमिका ऐसे पावै हैं–

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥ ७४ ॥

सं॰ टी॰ स एव एकः अद्वितीयो मुनिः इमां-प्रत्यक्षां, भूमिं शुद्धोपयोगस्थानं, श्रयति-भजति, कीदृशः ? ज्ञानेत्यादिः-ज्ञानं-स्वात्मज्ञानं, क्रिया-स्वात्माचरणलक्षणं चारित्रं त्रयोदशप्रकारलक्षणं वा नयः-नयति-प्राप्नोति, स्वात्मस्वरूपमिति नयः प्रमाणैकदेशो नैगमादि दर्शनं वा ज्ञानं च क्रिया च नयश्च तेषां परस्परं-अन्योन्यं, तीव्रमैत्री-अत्यंतसखित्वं तया, अपात्रं पात्रं कृत इति पात्रीकृतः, स कः ? यः-योगी, भावयति-ध्यानविषयीकरोति, कथं ? अहरहः-दिने दिने, तत्सामर्थ्यात्प्रतिक्षणं, कं ? स्वं-आत्मानं, क्व ? इह-आत्मनि, स्वस्वरूपे, काभ्यां स्यादित्यादिः- स्याद्वादः श्रुतज्ञानं, तथा चोक्तं देवागमे—

स्यद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च वस्तु ह्यन्यतमं भवेत् ॥ १ ॥ इति

तत्र कौशल्यं, निपुणता, सुनिश्चलः-सुष्ठु अक्षोभ्यः, स चासौ संयमः-चारित्रं च द्वंद्वः ताभ्यां ? कीदृक्षः सः ? उपयुक्तः-शुद्धोपयोगे सावधानः ॥ ७४ ॥ अथात्मोदयमावम्यति---

अर्थ--जो पुरुष स्याद्वादन्यायका प्रवीणपणा अर निश्चलव्रतसमितिगुप्तिरूप संयम इनि दोऊनिकरि अपने ज्ञानस्वरूप आत्माविषैं उपयोग लगावता संता आत्माकूं निरंतर भावै है, सोही पुरुष ज्ञाननय अर क्रियानयकरि इनि दोऊनिकेविषैं परस्पर भया जो तीव्र मैत्रीभाव तिसका पात्ररूप भया इस निजभावमयी भूमिकाकूं पावै है ॥ भावार्थ--जो ज्ञाननयहीकूं ग्रहणकरि क्रियानयकूं ग्रहणकरि ज्ञाननयकूं नाही जानै है सो भी शुभकर्ममैं संतुष्ट भया इस निष्कर्मभूमिकाकूं नाही पावै है। वहुरि ज्ञान पाय निश्चल संयमकूं अंगीकार करै हैं तिनिकै ज्ञाननयकै अर क्रियानयकै परस्पर अत्यंत मित्रता होय है ते इस भूमिकाकूं पावै हैं। इनि दोऊ नयनिका ग्रहणत्यागका रूप वा फल पंचास्तिकायग्रंथके अंतमैं कह्या है, तहांतैं जानना ॥ अब कहै हैं, इस भूमिकाकूं पावै है सोही आत्माकूं पावै है--

चित्पिंडचंडिमविलासिविकासहासः शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः।
आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूपस्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा॥ ७५ ॥

सं० टी०--तस्यैव मुनेः शुद्धोपयोगभूमिगतस्य न पुनरन्यस्य, अयं-आत्मा-चिद्रूपः, उदयति-उदयं प्राप्नोति-साक्षाद्भवतीत्यर्थः, कीदृक्षः सः ? चिदित्यादिः-चित्पिंड-ज्ञानपिंडः, तस्य चंडिमा-प्रौढत्वं, तेन विलसतीत्येवं शीलो विकासः स एव हासः-झर्झरं यस्य सः अन्योप्युदये विकासहासो भवतीत्युक्तिलेशः। पुनः कीदृशः ? शुद्धेत्यादिः शुद्धः-कर्ममलकलंकरहितः स चासौ प्रकाशश्च ज्ञानोद्योतः तस्य भरः-समूहः स एव निर्भरप्रभातः-सातिशयप्रातःकालो यस्य सः अन्यस्याप्युदये प्रातःकालो भवति पुनः कीदृशः ? आनंदेत्यादिः-आनंदे-अकर्मशर्मणि सुस्थितं-सुप्रतिष्ठं सदा-नित्यं, अस्खलितैकरूपं स्खलितरहिता द्वितीयस्वरूपं यस्य सः, अन्यस्याप्युदयस्यास्खलितस्वरूपं भवतीत्युक्तिलेशः ॥ ७५ ॥ अथ स्वस्वभावविस्फुरणं काम्यति--

अर्थ--जो पुरुष पूर्वोक्त प्रकार भूमिकूं पावै है तिसही पुरुषकै यह आत्मा उदय होय है। कैसा है आत्मा ? चैतन्यका जो पिंड ताका निरर्गलविलास करनेवाला जो विकास प्रफुल्लित होना तिसरूप है हास कहिये फूलना जाका,

बहुरि कैसा है ? शुद्धप्रकाशका भर कहिये समूह ताकरि भला प्रभातसारिखा उदयरूप है । बहुरि कैसा है ? आनंदकरि भले प्रकार तिष्ठया सदा नाहीं चिगता है एकरूप जाका ऐसा है । बहुरि कैसा है ? अचल है अर्चि कहिये ज्ञानरूप दीप्ति जाकी ॥ भावार्थ–इहां चित्पिंड इत्यादि विशेषणतैं तौ अनंतदर्शनका प्रकट होना जनाया है । बहुरि कैसा है ? अचल है शुद्धप्रकाश इत्यादि विशेषणतैं अनंतज्ञानका प्रकट होना जनाया है । अर आनंदसुस्थित इत्यादि विशेषणकरि अनंत सुखका प्रकट होना जनाया है । अर अचलार्चि इस विशेषणकरि अनंतवीर्यका प्रकट होना जनाया है। पूर्वोक्त भूमीके आश्रयतैं ऐसा आत्मा उदय हो है ॥ अब कहै है, ऐसाही आत्मस्वभाव हमारे प्रकट होऊ–

स्याद्वाददीधितलसन्महसि प्रकाशे शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावैर्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥ ७६ ॥

सं० टी–इति हेतोः, अयं प्रसिद्धः, स्वभाव-आत्मस्वरूपं स्फुरतु-प्रकाशं यातु, परं-केवलं, कीदृशः सः ? नित्योदयः नित्यं-सदा उदयो यस्य सः । इति किं ? मयि शुद्धभावे आत्मनि उदिते उदयं प्राप्ते सति, अन्यभावैः-शुभाशुभोपयोगैः किं ? न किमपि स्यात् । कीदृशैस्तैः ? बंधेत्यादि-कर्मणां बंधश्च मोक्षश्च बंधमोक्षौ तयोः पंथाः-मार्गः, तत्र पातिभिः पतनशीलैः अयं बंधहेतुः, अयं मोक्षहेतुः, इत्यादीनां भावानां प्रयोजनाभावात् । कीदृशे तस्मिन् ? स्यादित्यादि-स्याद्वादः-युक्तं-मावयुक्तं, तेन दीपितं, लसन्महः-उल्लसत्तेजः यस्य तस्मिन्, प्रकाशे स्वपरप्रकाशात्मके, पुनः शुद्धेत्यादि-शुद्धस्वभावे महिमा-माहात्म्यं यस्य तस्मिन् ॥ ७६ ॥ अथ चिन्महो रोचते–

अर्थ–मोविषैं स्याद्वादकरि दीपित कहिये प्रकाशरूप भया है लहलाट करता तेजःपुंज जामैं, बहुरि शुद्धस्वभावकी है महिमा जामैं ऐसा ज्ञानप्रकाश उदय होतैं बंधमोक्षके मार्गमैं पटकनेवाले जे अन्यभाव तिनिकरि कहा साध्य है ? मेरै तौ केवल अनंतचतुष्टयरूप यह अपना स्वभाव सो निरंतर उदयरूप भया स्फुरायमान होउ ॥ भावार्थ–स्याद्वादकरि यथार्थ आत्मज्ञान भये पीछे याका फल पूर्ण आत्माका प्रकट होना है । सो मोक्षका इच्छक पुरुष यहही प्रार्थना करै, जो, मेरा पूर्णस्वभाव आत्मा उदय होऊ । अन्यभाव बंधमोक्षमार्गकी कथारूप हैं, तिनिकरि कहा प्रयोजन है ? च कहै हैं, जो, नयनिकरि आत्मा साधिये है, परंतु नयहीपरि दृष्टि रहै तौ नयनिकै परस्पर विरोध भी है । तातैं मै यनिकूं अविरोधकरि आत्माकूं अनुभऊं हूं ॥

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोयमात्मा सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः ।
तस्मादखंडमनिराकृतखंडमेकमेकांतशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥ ७७ ॥

सं० टी०—अयमात्मा-चिद्रूपः, नय इत्यादिः-नयानां-द्रव्यपर्यायाणां ईक्षणं-अवलोकनं, तेन खंड्यमानः-भिद्यमानः, प्रणश्यति-द्रव्यक्षेत्रकालभावेन खंड्यते इत्यर्थः। कीदृक्षः ? चित्रेत्यादिः-चित्राः-नानाप्रकाराः, ताश्च ता आत्मशक्तयश्च-जीवशक्तिचितिशक्तिदृशिशक्तिज्ञानशक्तिसुखशक्तिवीर्यशक्तिप्रभुत्वशक्तिविभुत्वशक्तिसर्वदर्शित्वशक्तिसर्वज्ञत्वशक्तिस्वच्छत्वशक्तिप्रकाशशक्तिसंकुचितविकाशत्वशक्तिकार्यकारणशक्तिपरिणाम्यपरिणामिकत्वशक्तित्यागोपादानशून्यत्वागुरुलघुत्वोत्पादव्ययध्रुवत्वपरिणाममूर्तत्वाकर्तृत्वाभोक्तृत्वनिष्क्रियत्वनियतप्रदेशत्वस्वधर्मव्यापकत्वसाधारणासाधारणसाधारणधर्मत्वानंतधर्मत्वविरुद्धधर्मत्वतत्त्वातत्त्वैकत्वानेकत्वभावाभावाभावाभावभावभावाभावाभावाभावक्रिया कर्मकर्तृकरणसंप्रदानापादानाधिकरणत्वसंबंधादयःशक्तयः, तासां समुदायेन निर्वृत्तः, अस्मात्कारणात्, अहं-चित् चेतना महः-धाम, अस्मि-भवामि कीदृक्षं महः ? अखंडं-न खंड्यते केनापीत्यखंडं, अनिरित्यादिः-अनिराकृता-न दूरीकृता व्यवहारनयापेक्षया खंडाः पर्याया यस्य तत् एकं-अद्वितीयं कर्म व्यतिरिक्तत्वात्, एकांतशांतं-एकांतेन-अद्वितीयेन स्वभावेन शांतं-समारूढं पुनः अचलं स्वस्वभावत्वा द्विनश्वरत्वान्निश्चलं ॥ ७७ ॥ अथ ज्ञानमात्रत्वं मंत्र्यते आत्मनः—

अर्थ—यह आत्मा है सो चित्र कहिये अनेक प्रकार जे अपनी शक्ति तिनिके समुदायमय है। सो नयनिकी दृष्टिकरि भेदरूप कीया हुवा तत्काल खंडखंडरूप होय नाशकूं प्राप्त होय है। तातैं मैं मेरा आत्माकूं ऐसैं अनुभवूं हौं,-जो, मैं चैतन्यमात्र मह वस्तु हौं। सो कैसा हौं ? नाही निराकरण कीये हैं खंड जामैं तौऊ खंड-भेद रहित अखंड हौं, एक है बहुरि एकांतशांतरूप हौं। जामैं कर्मका उदयका लेश नाही ऐसा शांतभावमय हौं। अर अचल हौं, कर्मका उदयका चलाया चलूं नाही हौं॥ भावार्थ—आत्मामैं अनेकशक्ति हैं, अर एक एक शक्तीका ग्राहक एक एक नय है, सो नयनिकी एकांत दृष्टिकरिही देखिये तौ आत्माका खंड खंड होय नाश होय जाय। तातैं स्याद्वादी नयनिका विरोध मेटि चैतन्यमात्र वस्तु अनेकशक्तिसमूहरूप सामान्यविशेषस्वरूप सर्वशक्तिमय एकज्ञानमात्र अनुभव करै है। ऐसा वस्तूका स्वरूप है तामैं विरोध नाही॥ अब कहै हैं, जो ज्ञान तौ मैं हौं, ज्ञेय ज्ञेय है—

योयं भावो ज्ञानमात्रोहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।

ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥ ७८ ॥

सं० टी—योयं-प्रसिद्धः, ज्ञानमात्रः-ज्ञानस्य मात्रं-कात्स्न्यं यत्र सः भावः-पदार्थः स एवाहं अस्मि-भवामि, यः ज्ञेयज्ञानमात्रः ज्ञेयानां-पदार्थानां, ज्ञानमात्रः-तदुत्पत्त्यादिना पदार्थाकारमात्रः सोहं नैव ज्ञेयः-ज्ञातव्यः, तर्हि कीदृक्सोहं ? ज्ञेयेत्यादिः-ज्ञेयश्च ज्ञानं च तत्परिच्छेदकं, ज्ञेयज्ञाने तयोः कल्लोलाः-वीचयः, अर्थाद्विवर्तास्तत्र वल्गत्-वल्गनं कुर्वत् तद्ग्रहणं कुर्वदित्यर्थः तच्च तत्-ज्ञानं च तदेव ज्ञेयं-परिच्छेद्यं, तस्य यो ज्ञातृमत् ज्ञायकं-स्वपरपरिच्छेदकं तच्च तद्वस्तु च तदेव मात्रं-प्रमाणं यस्य सः ज्ञेयः-ज्ञातव्यः ॥ ७८ ॥ अथात्मनः प्रतिभासभेदं संपूरयति—

अर्थ—जो यह ज्ञानमात्र भाव मै हौं सो ज्ञेयका ज्ञानमात्रही नाही जानना । तौ यह ज्ञानमात्रभाव कैसा जानना ? ज्ञेयनिके आकार जे ज्ञानके कल्लोल तिनिकूं विलगता ऐसा ज्ञान, सोही ज्ञान, सोही ज्ञेय, सोही ज्ञाता ऐसैं ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता इनि तीन भावनिसहित वस्तुमात्र जानना ॥ भावार्थ–अनुभव करते ज्ञानमात्र अनुभवै । तब बाह्य ज्ञेय तौ न्यारेही ज्ञानमैं पैठे नाही बहुरि ज्ञेयनिके आकारही झलक ज्ञानमैं है । सो ज्ञानभी ज्ञेयाकाररूप दीखै है, ए ज्ञानके कल्लोल हैं। सो ऐसा ज्ञानरूप भी ज्ञानका स्वरूप है। अर आपकरि आप जाननेयोग्य है तातैं ज्ञेयरूपभी है ॥ अर आपही आपकूं जाननेवाला है यातैं ज्ञाताभी है । ऐसैं तीनूं भावस्वरूप ज्ञान एक है । याहीतैं सामान्यविशेषस्वरूप वस्तु कहिये तिसमात्रही ज्ञानमात्र कहिये ॥ सो अनुभव करनेवाला ऐसैंही अनुभव करै, जो, ऐसा ज्ञानमात्र यह मै हौं ॥ अब कहै हैं, अनुभवकी दशामैं अनेकरूप दीखे हैं तौऊ यथार्थज्ञाता निर्मल ज्ञानकूं भूलै नाही है—

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम ।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥ ७९ ॥

सं० टी०—ममात्मनः तत्त्वं-ज्ञानस्वरूपं, क्वचित्-कस्मिन् क्षणे, बहिःपदार्थग्रहणसमये, मेचकं चित्रस्वरूपं पक्षांतरे रागद्वेषकलुषितं वा लसति-विलासं करोति 'पंचवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यमिति-वचनात् तद्वत् ज्ञानमपि चित्राकारं मेचकं भण्यते। पुनः-पुरः, क्वचित् सहजशुद्धटंकोत्कीर्णस्वरसस्वभावालंबनसमये अमेचकं-बहिश्चित्राकाररहितं रागद्वेषमोहमलमुक्तं वा विलसति। कीदृक्षं ? सहजं-यदमेचकस्वरूपं तत्स्वरसजं, एव-निश्चयेन, परेषामन्योपाधिसापेक्षत्वात् पुनः क्वचित्-स्वपरग्रहणोन्मुख-

समये, मेचकामेचकं-परस्वरूपग्रहणेन मेचकं, स्वरूपग्रहणेन अमेचकं प्रतिभासते तथापि मेचकामेचकस्वरूपप्रतिभासेऽपि, तत् आत्मतत्त्वं कर्तृ, अमलमेधसां-निर्मलज्ञानिनां, मनः चित्तं, कर्मतापन्नं न विमोहयति मोहं न प्रापयति, सद्धेतुविशेषणमाह-परस्परेत्यादिः-परस्परं-अन्योन्यं, सुसंहता- सम्यग्मिलिता सा चासौ प्रकटशक्तिश्च स्फुटसामर्थ्यं, तेषां चक्रं समूहो यत्र तत्, पुनः स्फुरत्-देदीप्यमानं ॥ ७९ ॥ अथैकत्वानेकत्वादिप्रतिभासनं वाभायते—

अर्थ—अनुभवन करनेवाला कहै हैं-जो, मेरा आत्मतत्त्व है सो कहूं तौ मेचक लखै है अनेकाकार दीखै है। बहुरि कहूं अमेचक कहिये अनेकाकाररहित शुद्ध एकाकार दीखै है बहुरि कहूं मेचकामेचक कहिये दोऊ रूप दीखै है। तौऊ जे निर्मलबुद्धि हैं तिनिका मनकूं भ्रमरूप नाहीं करै है। जातैं कैसा है? परस्पर भलै प्रकार मिली जे प्रकट अनेक शक्ति तिनिका समूहस्वरूप स्फुरायमान होता है। भावार्थ--आत्मतत्त्व है सो अनेक शक्तीकूं लीये है। तातैं कोई अवस्थामैं तौ अनेक आकार कर्म उदयके निमित्तकरि अनुभवमें आवै हैं। बहुरि कोई अवस्थामें शुद्ध एकाकार अनुभवमें आवै हैं बहुरि कोई अवस्थामैं शुद्धाशुद्धरूप अनुभवमें आवै है। तौऊ यथार्थज्ञानी स्याद्वादके बलकरि भ्रमरूप न होय है। जैसा है तैसा मानै है। ज्ञानमात्रसूं च्युत न होय है॥ अब कहै हैं, जो, अनेकरूपकूं धरता यह आत्माका अद्भुत आश्चर्यकारी विभव है—

> इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकतामितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
> इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजैरहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवं ॥ ८० ॥

सं॰ टी॰—अहो-महाश्चर्यं, तदिदं, आत्मनः-चिद्रूपस्य सहजं-स्वाभविकं, वैभवं-माहात्म्यं, अद्भुतं-आश्चर्यकारि, तत् किं? यदिदं इतः-अस्मात् शुद्धपर्यायार्पणात्, अनेकतां-ज्ञानदर्शनस्ववीर्याद्यनेकस्वरूपं गतं-प्राप्तं, अपि-पुनः, यत् इतः-अस्मात् संग्रहनयात्, सदापि-सर्वदापि, एकतां-आत्मद्रव्येणैकत्वं गतं-प्राप्तं। ननु यदनेकं तदेकं कथं स्यात् अन्यथा घटपटादीनामनेकत्वेऽप्येकत्वं स्यादिति चेन्न नयार्पणादेकत्वानेकत्वघटनात् सदात्मना घटादीनामनेकत्वेऽपि एकत्वघटनाच्च अन्यथाऽभावप्रसंगात् यत् इतः-ऋजुसूत्रनयात् क्षणविभंगुरं-प्रतिक्षणं विनश्वरं पुनः-यत्, इतः-द्रव्यार्थिकनयात्, सदैव-नित्यमेव, ध्रुवं-नित्यं, सदैवोदयात्-उत्पादाद्यभावे सदा प्रकाशमानत्वात्। ननु यत्क्षणिकं तत्कथं ध्रुवं शीतोष्णवत्तयोरन्योन्यं विरोधात् इति चेन्न नयविवक्षासद्भावात् मृद्द्रव्यवत् यथा मृद्द्रव्यं मृत्पिंडाकारेण विनष्टं सद्घटाकारेणोत्पद्यते मृद्द्रव्यस्य ध्रुवत्वं च तथात्मद्रव्यस्यापि यत्

पुनः इतः-द्रव्यार्पणात् परं केवलं, अविस्तृतं-विस्ताराभावविशिष्टं,इतः-पर्यायविवक्षातः, निजैः-आत्मीयैः प्रदेशैः अर्तव्यसंख्याव-च्छिन्नैर्धृतं-भृतं, विस्तारिद्रव्यमित्यर्थः ॥ ८० ॥ अथात्मनः स्वभावो विजयते—

अर्थ—अहो ! बडा आश्चर्यकारी ! सो यह आत्माका स्वाभाविक अद्भुत विभव है जो इतः कहिये एकतरफ देखिये तौ अनेकताकूं धारता है, यह पर्यायदृष्टि है। बहुरि एकतरफ देखिये तौ सदाही एकताकूं धारता है, यह द्रव्यदृष्टि है। बहुरि एकतरफ देखिये तौ क्षणभंगुर है, यहभी क्रमभावी पर्यायदृष्टि है। बहुरि एकतरफ देखिये तौ ध्रुव दीखै है, यह सहभावी गुणदृष्टि है। जातैं सदा उदयरूप दीखै है। बहुरि एकतरफ देखिये तौ परमविस्तारस्वरूप दीखै है. यह ज्ञान अपेक्षा सर्वगतदृष्टि है। बहुरि एकतरफ देखिये तौ अपने प्रदेशनिकरि धारिये है, यह प्रदेशनिकी अपेक्षा दृष्टि है। ऐसा आश्चर्यरूप विभवकूं आत्मा धारै है ॥ भावार्थ—यह द्रव्यपर्यायात्मक अनंतधर्मा वस्तुका स्वभाव है। सो जो पूर्वे अ-ज्ञानी हैं, तिनिकै ज्ञानमें आश्चर्य उपजावै है। सो असंभवती वार्ता है। बहुरि ज्ञानिनिकै वस्तुस्वभावमें आश्चर्य नाही है। तोऊ अद्भुत परम आनंद ऐसा होय है, ऐसा कबहू पूर्वे न भया यह आश्चर्य भी उपजै है ॥ फेरि इसही अ-र्थरूप काव्य है—

कषायकलिरेकतः स्खलति शांतिरस्त्येकतो भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ॥ ८१ ॥

सं. टी.–विजयते-सर्वोत्कर्षेण वर्तते, कः ? स्वभावमहिमा-ज्ञानस्वरूपमाहात्म्यं, कस्य ? आत्मनः-चिद्रूपस्य, अद्भुतः-आश्च-र्योद्रेककारी, कुतः ? अद्भुतात् आश्चर्यकारिजगत्पदार्थात्, तत्कथमित्याह एकतः-एकस्मिन्नंशे,कषायकलिः-रागद्वेषमोहकलहः स्खलति। एकतः-शुद्धनिश्चयनयावलंबनांशे, शांतिः-परमसाम्यं, अस्ति-विद्यते। एकतः-व्यवहारनयावलंबनांशे भवोपहतिः-भ-वस्य-द्रव्यादिपंचधासंसारस्य उपहतिः-प्राप्तिरस्ति, एकतः-शुद्धनयांशे, मुक्तिरपि-कर्ममलमोचनमपि स्पृशति-आश्रयति आ-त्मानं, एकतः-एकस्मिन्नंशे जगत्त्रयं गच्छंतीति जगंति गम्लृ गतौ, इत्यस्य धातोः द्युतिगमोर्द्वे चेति क्विप्प्रत्ययेनेति सिद्धं, ज-गतां त्रयं अधोमध्योर्ध्वभेदेन त्रिकं स्फुरति-चकास्ति, एकतः-एकांशे,चित्-ज्ञानं, चकास्ति-द्योतते ॥ ८१ ॥ अथैकत्वं तस्य जेगीयते—

अर्थ—आत्माका स्वभावका महिमा है सो अद्भुततैं अद्भुत विजयरूप प्रवर्ते है काहूकरि बाध्या न जाय है।

कैसा है? एकतरफ देखिये तौ कषायनिका कलेश दीखे है। बहुरि एकतरफ देखिये तौ कषायनिका उपशमरूप शांत भाव है। बहुरि एकतरफ देखिये तौ संसारसंबंधी पीडा दीखै है। बहुरि एकतरफ देखिये तौ संसारका अभावरूप मुक्तिभी स्पर्शै है। बहुरि एकतरफ देखिये तौ केवल एक चैतन्यमात्रही सोभै है। ऐसैं अद्भुततैं अद्भुत महिमा है॥ भावार्थ–इहांभी पहले काव्यके भावार्थरूपही जानना। यह अन्यवादी सुणि बडा आश्चर्य करै हैं। तिनिके चित्तमैं विरुद्ध भासे, सो समाहि सके नाही। अर तिनिकै कदाचित् श्रद्धा आये तौ प्रथम अवस्थामैं बडा अद्भुत दीखै, जो, हमने अनादिकाल यौंही खोया। यह जिनवचन बडे उपकारी हैं, वस्तूका स्वरूप यथार्थ जनावै है। ऐसैं आश्चर्यकरि श्रद्धान करै हैं॥ आगै टीककार इस सर्व विशुद्धज्ञानका अधिकार पूर्ण करै हैं। ताके अंतमंगलके अर्थी इस चिचमत्कारहीकूं सर्वोत्कृष्ट कहै हैं–

विशेष–संस्कृतटीकाकारने उपहतिका अर्थ प्राप्ति किया है और भाषाटीकाकारने पीडा। यहां पीडा अर्थ उपयोगी जानपडता है।

जयति सहजतेजःपुंजमज्जत्त्रिलोकीस्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभः प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः॥ ८२॥

सं० टी०—एषः-प्रत्यक्षः चिच्चमत्कारः-चैतन्याश्चर्यंद्रिकः, जयति-सर्वोत्कर्षेण वर्तते कीदृक्षः? सहजेत्यादिः-सहजं-स्वाभाविकं तच्च तत्तेजश्च ज्ञानज्योतिः, तस्य पुंजः-द्विकवारानंतशक्तिसमूहः तत्र मज्जंती मज्जनं कुर्वंती, प्रतिभासमानेत्यर्थः सा चासौ त्रिलोकी च-त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तया स्खलंतः-चलंतः, अखिलविकल्पाः-तद्विषयरूपेण समस्तविकल्पाः यत्र सः ईदृक्षोऽपि एक एव-अद्वितीय एव स्वरूपः-स्वस्य-आत्मनः रूपं-स्वरूपं यत्र सः, पुनः स्वेत्यादिः-स्वरसः-स्वभावः तस्य विसरः-समूहः, तेन पूर्णं-संपूर्णं, तच्च तदच्छिन्नतत्त्वं चाखंडात्मतत्त्वं तस्योपलंभः-प्राप्तिर्यत्र सः, पुनः प्रसभेत्यादिः-प्रसभेन-बलात्कारेण, नियमितं-लोकालोकप्रकाशकत्वेन निश्चयीकृतं, अपरप्रकाश्यस्याभावादर्चिः-तेजः, यस्य सः॥ ८२॥ अथ कर्तृतागर्भितमात्मज्योतिर्जाज्वल्यते—

अर्थ–यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर चैतन्यचमत्कार है सो जयवंत प्रवर्तै है। काहूकरि वारया न जाय ऐसैं सर्वोत्कृष्ट होय प्रवर्तै है। कैसा है? अपना स्वभावस्वरूप जो तेजः प्रकाशका पुंज ताविषैं मग्न होते जे तीन लोकके पदार्थ तिनिकरि होते दीखते हैं अनेक विकल्प भेद जामैं ऐसा है तौऊ एकस्वरूपही है॥ भावार्थ–केवलज्ञानमैं सर्व पदार्थ झ-

पत्न कहिये प्रतिपक्षी कर्मकरि रहित ऐसा है स्वभाव जाका। बहुरि कैसा ? निर्मल है अर पूर्ण है ॥ भावार्थ—इहां आत्माकूं अमृतचंद्रज्योति कह्या सो यह लुप्तोपमा अलंकारकरि कह्या जानना। जातैं, अमृतचंद्रवत् ज्योति ऐसा समासविषैं वत् शब्दका लोप होय है तब अमृतचंद्रज्योति कहिये। तथा वत् शब्द न करिये तब अमृतचंद्ररूपज्योति ऐसा कहिये। तब भेदरूपक अलंकार है। तथा अमृतचंद्रज्योति ऐसाही आत्माका नाम कहिये तब अभेदरूप अलंकार हो है। अर याके विशेषण हैं तिनिकरि चंद्रमातैं व्यतिरेकभी है। जातैं ध्वस्तमोह विशेषण तौ अज्ञान अंधकार दूरि होना जणावे है। अर निर्मल पूर्ण विशेषण लांछनरहितपणा पूर्णपणा जणावै है। अर निःसपत्नस्वभाव विशेषण राहुबिंबतैं तथा बादला आदिकरि आच्छादित न होना जणावै है ॥ समंतात् ज्वलन है जो सर्वक्षेत्र सर्वकालमैं प्रकाश करना जणावै है। चंद्रमा ऐसा नाही। बहुरि अमृतचंद्र ऐसा टीकाकार अपना नामभी जणाया है बहुरि याका समास पलटिकरि अर्थ कीजिये तब अनेक अर्थ होय हैं सो यथासंभव जानने ॥

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रांतरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः।
भुंजाना च यतोनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित्किल ॥ ८४ ॥

सं० टी०—तत्-कर्म, विज्ञानघनौघमग्नं-ज्ञाननिरंतरसमूहांतःपतितं सत् अधुना-इदानीं,-ग्रंथोक्तस्वार्थानुभावे जाते सति किंचित्-किमपि कर्म किलेति-निश्चितं, न किंचित्-नकिमप्यर्थक्रियाकारि अकिंचित्करत्वात् तत्किं ? यस्मात्-कर्मणः पुरा-पूर्वं, द्वैतं-आत्माकर्मेति द्वैविध्यं जातं, पुनः अत्र-जगति यतः-यस्मात्कर्मणः- स्वपरयोः-आत्मकर्मणोः-सिद्धस्वात्मनोर्वा,अंतरं-भेदः-भूतः-समुत्पन्नः, क सति ? रागेत्यादिः-रागद्वेषयोः परिग्रहे अंगीकारे जाते सति। पुनः यतः कर्मणः सकाशात् क्रियाकारकैः आत्मनः क्रियाः कर्मफलानुभवनरूपगमनागमनरूपाश्च कारकाणि-आत्मनः कर्तृत्वकर्मत्वकरणत्वादीनि तैः जातं उत्पन्नं कर्मांतरेणात्मनः कर्तृकर्मक्रियारूपेणाभवनात्, च-पुनः, यतः यस्मात्कर्मणः, अनुभूतिः-कर्मफलानुभवनं खिन्ना-खेदं गता, कीदृक्षा सा क्रियायाः-गमनागमनरूपाया जुहोतिपचतीत्यादिरूपयाश्च, अखिलं-समस्तं फलं भुंजाना मया गतं मयाऽऽगतं मया हुतं

मया पक्तं ममेदं कृतमित्यादिरूपफलं भुंजाना ॥ ८४ ॥ अथात्मगुप्तस्य स्वतावर्णसूचकस्य समयसारकृतिकृतत्वमस्य कृत-विशुद्धशुचिस्वरूपभूरेरमृतचंद्रसूरेः कृतकृत्यत्वं कीर्त्यते—

अर्थ—यस्मात् कहिये जिस परसंयोगरूप बंधपर्याय जनित अज्ञानतैं प्रथम तौ अपना अर परका द्वैतरूप एकमाव भया, बहुरि जिस द्वैतपणातैं अपने स्वरूपविषैं अंतर भया, बंधपर्यायहीकूं आपा जान्या, बहुरि तिस अंतर पडनेतैं रागद्वेषका परिग्रह भया, तिसके होतैं क्रिया अर कर्ता कर्म आदि कारकनिकरि भेद पड्या, बहुरि तिस क्रिया कारकके भेदकरि आत्माकी अनुभूति है, सो क्रियाका समस्तफलकूं भोगती संती खेदखिन्न भई सो ऐसा अज्ञान है, सो अब ज्ञान भया। तब तिस विज्ञानघनके समूहविषैं मग्न होय गया सो अब याकूं देखिये तौ किछू भी नाही है। यह प्रगट अनुभवमैं आवै है। भावार्थ- अज्ञान है सो परसंयोगतैं ज्ञानही अज्ञानरूप परिणया था। कछू दूजा तौ वस्तु था नाही। सो अब ज्ञानरूप परिणम्या तब किछूभी न रह्या। तब इस अज्ञानके निमित्ततैं राग, द्वेष, कर्ता, कर्म, सुख, दुःख आदि भाव होय थे, तेभी विलाय गये। एक ज्ञान ही ज्ञान रहि गया। तीन कालवर्ती अपना परका सर्व भावनिकूं आत्मा ज्ञाता द्रष्टा हुआ देखबो करो। आगे अमृतचंद्र आचार्य इस ग्रंथ करनेका अभिमानरूप कषायकूं दूरि करता संता यथार्थ कहै हैं-

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः ॥ ८५ ॥

सं॰ टी॰—येन-अमृतचंद्रसूरिणा व्याख्याहार्यं इदं व्याख्या व्यख्याना, कृता-निर्मापिता, कस्य ? समयस्य सं-सम्यग् अयति-गच्छति प्राप्नोति स्वगुणपर्यायानिति समयः-पदार्थः तस्य, कैः ? शब्दैः-अर्थप्रकाशकशब्दैः, कीदृशैस्तैः ? स्वेत्यादिः-स्वस्य शक्तिः-अर्थप्रकाशनसामर्थ्यं तया सं-सम्यक्, सूचितं-प्रकाशितं, वस्तूनां पदार्थानां, तत्वं-स्वरूपं यैस्तैः, तस्य-अमृतचंद्रसूरेः-अमृतचंद्राख्याचार्यस्य, किंचित् किमपि, कर्तव्यं-करणीयं, एव-निश्चयेन, नास्ति समस्तवस्तुकृत्येन पूर्णस्य कीदृक्षस्य तस्य ? स्वरूपेत्यादिः-स्वस्य शुद्धचिद्रूपस्य रूपं-स्वरूपं तत्र गुप्तस्य एकतां प्राप्तस्य ॥ ८५ ॥

इति श्रीमन्नाटकसमयसारस्थपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां नवमोऽङ्कः ॥ ९ ॥

अर्थ—यह समय कहिये आत्मवस्तु तथा समय कहिये समयप्राभृत नामा शास्त्र, ताकी व्याख्यान तथा यह आत्मख्याति नाम टीका, सो शब्दनिकरि करी है। कैसे हैं शब्द ? अपनी शक्तिहीकरि संसूचित कहिये भलै प्रकार कह्या है वस्तूका तत्त्व कहिये यथार्थस्वरूप जाकरि, अर मैं तो निज आत्मरूप अमूर्तिक ज्ञानमात्र, तिसविषैं गुप्त होय प्रवेशकरि रह्या है। भावार्थ--शब्द है सो तौ पुद्गल है । सो पुरुषके निमित्ततैं वर्णपदवाक्यरूप परिणमै है। सो इनिमैं वस्तूका स्वरूपके कहनेकी शक्ति स्वयमेव है। जातैं शब्दका अर अर्थका वाच्यवाचक संबंध है; सो द्रव्यश्रुतकी रचना शब्दहीकै करना संभवै है। अर आत्मा है सो अमूर्तिक है, अर ज्ञानस्वरूप है, तातैं मूर्तिक पुद्गलकी रचना कैसें करै ? तातैं आचार्यने ऐसा कह्या है, सो यह समयप्राभृतकी टीका शब्दनिकरि करी है। मैं मेरा स्वरूपमैं लीन हौं। मेरा कर्तव्य यामैं नाही है। ऐसैं कहनेमै उद्धतपणाका परिहारभी आवै है। अर निमित्तनैमित्तिकव्यवहारकरि ऐसा कहियेही, जो विवक्षितकार्य फलाने पुरुषनैं कीया इस न्यायकरि अमृतचंद्र आचार्यकृत यह टीका है ही। इसही न्यायकरि पढने सुननेवाले निकूं तिनिका उपकार भी मानना युक्त है। जातैं याकै पढ़ने सुननेकरि परमार्थ आत्माका स्वरूप जान्या जाय है। तिसका श्रद्धान आचरण भये मिथ्याज्ञान श्रद्धान आचरण दूरि होय है परंपरा मोक्षकी प्राप्ति होय है। याका निरंतर अभ्यास करना योग्य है।

इसप्रकार परमाध्यात्मतरंगिणीकी वचनिकाविषैं नवमा अधिकार पूर्ण भया ॥ ९ ॥

भाषाटीकाकारका वक्तव्य।

कुंदकुंदमुनि कीयो गाथाबंध प्राकृत है प्राभृतसमय शुद्ध आतम दिखावनूं।
सुधाचंद्रसूरि करी संस्कृतटीका वर आतमख्याति नाम यथातथ्य मन भावनूं ॥
देशकी वचनिकामैं लिखि जयचंद पढै संक्षेप अर्थ अलपबुद्धिकूं पावनूं।
पढो सुनो मन लाय शुद्ध आतमा लखाय ज्ञानरूप गहौ चिदानंद दरसावनूं ॥

दोहा—समयसार अविकारका वर्णन कर्ण सुनंत ॥
द्रव्यभावनोकर्म तजि आतमतत्त्व लखंत ॥

ऐसें समयसारप्राभृतनामा ग्रंथकी आत्मख्याति नामा संस्कृतटीकाके पद्यनिकी देश भाषामय वचनिका लिखी है। सो यह ताका संक्षेप भावार्थरूपसा अर्थ लिख्या है। संस्कृतटीकामें न्यायतें सिद्ध भये प्रयोग हैं। तिनिका विस्तार करिये तब अनुमानप्रमाणके प्रयोग प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमनरूप हैं, तिनिका स्पष्टकरि व्याख्यान लिखिये तौ ग्रंथ बहुत बधै। तथा आयु बुद्धि बल स्थिरता अल्प तातें जेता बण्या तेता संक्षेपकरि प्रयोजन मात्र लिख्या है। ताहूं वाचिकरि भव्यजीव पदार्थ समझियो। अर किछु अर्थमें हीनाधिक होय तौ बुद्धिमान् मूलग्रंथतें जैसें होय तैसें समझियो कालदोषतें इनी ग्रंथनिकी गुरुसम्प्रदायका व्युच्छेद होय गया है। तातें जेता बणें तेता अभ्यास होय है। जैनमत स्याद्वादरूप है, सो जे जिनमतकी आज्ञा माने हैं तिनिकै विपरीत श्रद्धान न होय है। कहूं अर्थका अन्यथा समझना भी होय तौ विशेषबुद्धिमान्का निमित्त मिलै यथार्थ होय है। जिनमतके श्रद्धानी हठग्राही नाहीं होय हैं ऐसें जानना ॥ अंतमंगलके अर्थ परमेष्ठीकूं नमस्कारकरि ग्रंथ समाप्त करिये हैं ॥

छप्पय–मंगल श्रीअरहंत घातियाकर्म निवारे। मंगल सिद्ध महंत कर्म आठूं परजारे।
आचारिज उवज्झाय मुनी मंगलमय सारे। दीक्षा शिक्षा देय भव्यजीवनिकूं तारे॥
अठवीस मूलगुण धार जे सर्वसाधु अणगार हैं। मैं नमूं पंचगुरुचरणकूं मंगल हेतु करार हैं॥ १॥
जैपुरनगरमांहिं तेरापंथशैली बडी बडे बडे गुनी जहां पढें ग्रंथ सार हैं।
जयचंद्र नामें मैं हूं तिनिमैं अभ्यास किछू किया बुद्धिसारूं धर्मरागतें विचार हैं॥
समयसारग्रंथ ताकी देशके वचनरूप भाषा करि पढो सुनूं करो निरधार है।
आपापर भेद जानि हेय त्यागि उपादेय गही शुद्ध आतमकूं यह बात सार है॥ २॥
दोहा–संवत्सर विक्रम तणूं अष्टादश शत और। चौसठि कातिक वदि दशै पूरण ग्रंथ सु ठौर॥

संस्कृतटीकाकारकी प्रशस्ति।

जयतु जितविपक्षः पालिताशेषशिष्यो विदितनिजस्वतत्त्वश्चोदितानेकसत्त्वः।
अमृतविधुयतीशः कुंदकुंदो गणेशः श्रुतसुजिनविवादः स्याद्विवादाधिवादः॥ १॥

सम्यक्संसारवल्लीवलयविदलने मत्तमातंगमानी पापातापेभकुंभोद्गमनकराकुंठकंठीरवारिः । (?)
विद्वंद्विद्याविनोदाकलितमतिरहो मोहतामस्य सार्थो (?) चिद्रूपोद्भासिचेता विदितशुभयतिर्ज्ञानभूरस्तु भूयात् ॥
विजयकीर्तिगतिर्जगतां गुरुर्विधृतधर्मधुरोद्धृतिधारकः । जयतु शासनभासनभारतीमयमतिर्दलितांपरेवांदिकः ॥
शिष्यस्तस्य विशिष्टशास्त्रविशदः संसारभीताशयो भावाभावविवेकवारिधितरस्याद्वादविद्यानिधिः ।
टीकां नाटकपद्यजां वरगुणाध्यात्मादिस्रोतस्विनीं श्रीमच्छ्रीशुभचंद्र एष विधिवत्संचक्रीरीति स्म वै ॥ ४ ॥
त्रिभुवनवरकीर्तेर्जातरूपात्तमूर्तेः शमदमयमपूर्तेराग्रहान्नाटकस्य ।
विशदविभववृत्तो वृत्तिमाविश्वकार गतनयशुभचंद्रो ध्यानसिद्ध्यर्थमेव ॥ ५ ॥
विक्रमवरभूपालात्पंचत्रिशते त्रिसप्तति व्यधिके । वर्षेप्याश्विनमासे शुक्ले पक्षेऽथ पंचमीदिवसे ॥ ६ ॥
रचितेयं वरटीका नाटकपद्यस्य पद्ययुक्तस्य । शुभचंद्रेण सुजयताद्विद्यासबलं न पद्मांकात् ॥ ७ ॥
..........पातनिकाभिश्च भिन्नभिन्नाभिः । जीयादाचंद्रार्कस्वाध्यात्मतरंगिणी टीका ॥ ८ ॥
इति कुमतद्रुममूलोन्मूलनमहानिर्झरणी श्रीमदध्यात्मतरंगिणी टीका समाप्ता ।

समाप्तश्चायं ग्रंथः ।

DHANYA KUMAR JAIN : HINDI GRANTHAGAR
P-15, Kalakar Street, Calcutta-7